

प्रताप सिंह चौहान



सन्तमत  
में साधना का  
स्वरूप

H 181.4  
C 573

प्रत्यूष प्रकाशन  
कानपुर

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OU\_186604**

UNIVERSAL  
LIBRARY

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. H 181.4  
C 57 S      Accession No. H 3770.

Author चौहान जताप सिंह.

Title संत मल में साधना का स्वरूप .

This book should be returned on or before the date  
last marked below.



# सन्त-मत में साधना का स्वरूप

लेखक

**प्रताप सिंह चौहान**

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

युवराजदत्त, कालेज

लखीमपुर



प्रकाशक

**प्रत्यूष-प्रकाशन**

रामबाग, कानपुर

प्रकाशक—प्रत्यूष-प्रकाशन, रामबाग, कानपुर ।  
लेखक—प्रो० प्रताप सिंह चौहान  
मूल्य—३-५० न० पै०—साढ़े तीन रुपये  
प्रकाशन काल—दीपावली, सात नवम्बर, १९६१ ई०  
आवरण चित्रकार—वी० के० डे०, कानपुर ।  
आवरण मुद्रक—जाब प्रेस, लि०, कानपुर ।  
जिल्दसाज—रफीक अहमद एण्ड सन्स, कानपुर ।  
मुद्रक—बाणी मुद्रण कार्यालय, कानपुर ।

ऋषिकल्प आदर्शोप ठा० जयदेव सिंह

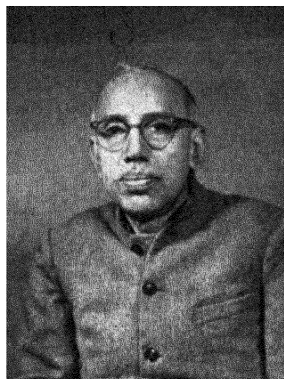
को

जिनके व्यक्तित्व में साहित्य, साधना और अध्यात्म  
की त्रिवेणी प्राप्त  
होती है

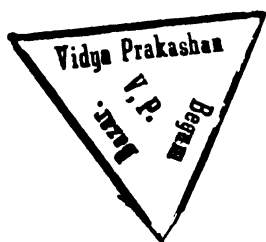
सादर, सभक्ति

समर्पित

लेखक



ठा० जयदेव सिंह जी





## विषय-सूची

|                                                                         |     |
|-------------------------------------------------------------------------|-----|
| १—सन्त-मत में साधना का स्वरूप                                           | १   |
| २—आध्यात्मिक साधना में पिपीलिका, मीन और<br>विहङ्गम मार्गों की परिकल्पना | १३  |
| ३—सन्त-मत में नाम अथवा शब्द की मान्यता                                  | २७  |
| ४—सन्त-मत की सुरति शब्द साधना और पश्चिम द्वार                           | ३९  |
| ५—सन्त-मत में सुरति, निरति और सहज समाधि<br>की मान्यता                   | ४६  |
| ६—सन्त-मत की साधना के अन्तराय                                           | ६९  |
| ७—सन्त-मत में प्रतीक और रूपक योजना                                      | ९८  |
| ८—सन्त-मत में दैन्य का महत्व                                            | १२३ |
| ९—सन्त-काव्य में सामाजिकता अथवा प्रेषणीयता                              | १३६ |
| १०—अध्यात्म, भौतिकता और जीवन                                            | १६१ |





## सन्त मत में साधना का स्वरूप

सृष्टि के प्रारम्भ में जब से जीव ब्रह्म से वियुक्त हुआ है वह अपने को अभाव ग्रस्त अनुभव करता आ रहा है। तभी से अपने सांग रूप की प्राप्ति के लिये उसकी जिज्ञासा अनन्त विषयों की सर्जना करती आ रही है। यदि हम इसे और भी स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि संसार का संसारत्व उसकी अतृप्त जिज्ञासा पर ही अवस्थित है। जिज्ञासा और असन्तोष ही सान्त जगत को अनादि और अनन्त बनाये हुए हैं। किन्तु सतत जिज्ञासा एवं असन्तोष जीव को अभीष्ट नहीं है। वह अपनी जिज्ञासा को पूर्ण तथा शान्त करना चाहता है और अपनी पूर्ण शान्ति की प्राप्ति की इस सतत यात्रा में उसे दो मार्ग दृष्टिगोचर हुए हैं। पारिभाषिक शब्दों में उन दोनों मार्गों की संज्ञा भौतिक और आध्यात्मिक है। इन दोनों में प्रथम बहिर्मुखी है तथा द्वितीय अन्तर्मुखी। भारतीय दार्शनिकों ने उन्हें अपरा और परा विद्या की संज्ञा दी है। आधुनिक विज्ञान के अन्वेषणों तथा आविष्कारों द्वारा आत्मतुष्टि प्राप्त करने का प्रयास बहिर्मुखी साधना का स्थूल स्वरूप है। इन्द्रियों को संयमित कर अपने अभ्यन्तर में उस सच्चिदानन्द की टोह अन्तर्मुखी साधना की संक्षिप्त परिभाषा है प्रस्तुत निबन्ध में हम इसी अन्तर्मुखी साधना के विविध रूपों की श्रृंखला में सन्त मत में प्रतिष्ठित साधना के महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

बहिर्मुखी साधना की सर्वोत्कृष्ट प्राप्ति की परिकल्पना प्राचीन भारत में समग्र ऐश्वर्य सम्पन्न सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। किन्तु सम्राटोचित भोगविलासों के अन्तर्गत डूबे हुये राजों-महाराजों का मन फिर भी अभाव ग्रस्त बना रहा। उनके मन की अतृप्ति की तड़प विषयों के भोग में और भी प्रचण्ड होती गई। इन्द्र इन्हीं ऐहिक सुखों का मूर्तिमान प्रतीक है। उसे परमानन्द—जिसे वह संसार के अनेक विषयों में खोजता रहा है—के लिये आत्म-विद्या की दीक्षा लेनी पड़ी, अपनी बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी करना पड़ा। और यही भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय है, अपरा पर परा का शंखनाद है।

परा की प्राप्ति अथवा अन्तर्मुखी साधना प्रक्रियाओं की भी प्रतिष्ठा दो वर्गों में दृष्टिगोचर होती है उन दोनों में से प्रथम का प्रकर्ष बहिर्मुखी है तथा द्वितीय का आभ्यान्तरिक। इन द्विविध प्रतिक्रियाओं के मूल में एक महत्वपूर्ण तथा स्वाभाविक कारण है और वह यह कि मानव की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक आदि बहिर्मुखी हैं। तात्पर्य यह है कि वे बाह्य विषयों का आस्वाद अनायास ही करती रहती हैं। अतएव, मानव ने सर्वप्रथम इसी बाह्य भूमि के अनुकूल समग्र तुष्टि की प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक साधनों की सर्जना की। भक्ति का विकास द्वैत भावना की इसी पुष्टि भूमि पर हुआ। नवधा भक्ति की स्थापना इसी के फलस्वरूप हुई प्रतीत होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्तिमूलक उपासना के संस्थापन द्वारा व्यक्ति ने चरम सुख अथवा परम चैतन्य की कल्पना ब्रह्म में की होगी और कालान्तर में राम, कृष्ण तथा अन्य देवी देवताओं में उसकी इस प्रगढ़ श्रद्धा तथा अगाध आस्था का विकास हुआ होगा। किन्तु भक्ति के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्त द्वैतमूलक है। साधक और उसका इष्ट कभी भी तादात्म्य की स्थिति में नहीं हो सकता, वरन् भक्त तो सदैव

अपना अस्तित्व भगवान से पृथक् रख कर उस अनिवर्चनीय आध्यात्मिक आनन्द का आस्वाद करना चाहता है। किन्तु द्वैत से पूर्ण सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि द्वैत में ही दुख-सुख, मान-अपमान आदि युग्मों की स्थिति रहती है जिनके कारण जीवात्मा संसार की सांसारिकता से मुक्त नहीं हो पाता। दूसरे शब्दों में संसार के संसरण का कारण यह द्वैत भावना ही है। इस द्वैत को सर्वतो-भावेन मिटाने के लिये कुछ साधना प्रक्रियाओं का प्रवर्तन हुआ। यह साधना पद्धतियाँ अत्यन्त एकान्तिक होने के कारण विशुद्ध अन्तर्मुखी भूमि पर प्रतिष्ठित हुईं। भारतीय दर्शन की परिभाषा के अन्तर्गत इन्हें योग की संज्ञा दी गई। स्थूल रूप से इन प्रक्रियाओं को दो भागों में विभाजित किया गया १ -- हठयोग तथा २—राजयोग।

हठयोग तथा राजयोग दोनों की साधना में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के द्वारा मन को संकल्प विकल्प विहीन करके ही समाधि सुख प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु रूढ़ हठयोग में आसन प्राणायाम को अधिक प्रकर्ष दिया गया है। निस्संदेह योग की यह प्रक्रिया राजयोग की अन्य साधना प्रक्रियाओं की सरणि में प्रथम चरण ही समझनी चाहिये। अर्थात् रूढ़ हठयोग अन्तर्मुखी साधना के मार्ग में प्रथम प्रयास के रूप में ही है। अभी उससे द्वैत नहीं छूटा है। शरीर में अनुरक्ति के कारण ही प्राणायाम और आसन उस प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं। वैसे हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार स्वामी रामस्वामी ने 'हठ' की व्याख्या इस प्रकार की है। 'ह' का अर्थ चन्द्र है तथा 'ठ' का अर्थ है सूर्य। 'ह' से 'पिंगला' नाड़ी तथा 'ठ' से इड़ा नाड़ी का प्रतीकात्मक अर्थ भी लिया जाता है और इन्हीं दोनों नाड़ियों का त्रिकुटी पर सुषुम्ना से सङ्गम समग्र योगों की चरम उपलब्धि है। सिद्धों और सन्तों की यही त्रिवेणी है। योग की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं में इड़ा तथा पिंगला का महत्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त योग की रूढ़ हठयोगिक प्रक्रिया के अतिरिक्त जिसमें अन्तर्मुखी होने पर भी देह भावना का भान रहता है कुछ अन्य सूक्ष्म साधनों का भी उल्लेख योग ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन अन्य साधना-पद्धतियों का आविष्कार इसी देह भावना अथवा स्थूल से पूर्ण व्यामोह निरसन के लिए ही मनीषी ऋषियों ने किया होगा, इसे असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—लययोग, मन्त्रयोग, तथा राजयोग। नीचे संक्षेप में इन पर प्रकाश डाला जा रहा है:—

**लययोग**—हठयोग प्रदीपिका में लययोग की परिभाषा निम्न प्रकार से की गई है 'लयोविषय विस्मृतिः' अर्थात् विषयों का पूर्ण विस्मरण लय है। इसकी साधना के विषय में उसी में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है 'भ्रुवो मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते'। अर्थात् भ्रुवों के मध्य त्रिकुटी में मन को एकाग्र करना चाहिये। अन्यत्र इस साधन प्रक्रिया को त्राटक कहा गया है।

**मन्त्रयोग**—मन्त्रयोग तथा भवितयोग प्रायः पर्याय है। तुलसी अथवा रुद्राक्ष की माला के माध्यम से गायत्री आदि मन्त्रों का विधिवत् जप मन्त्र योग के अन्तर्गत आता है और यही जप भवित योग का भी प्राण है भक्त अथवा मन्त्रयोगी माला के द्वारा अपने इष्ट के नाम का जप करता है। मनोलय का यह भी एक साधन है—कदाचित् प्रणाली के रूप में सर्वाधिक सरल।

**राजयोग**—राजयोग का स्वरूप निर्धारित करने में प्रायः हिन्दी के समीक्षकों को अत्यन्त भ्रम रहा है। इस सम्बन्ध से मैंने जितने शोध ग्रन्थ पढ़े हैं उनमें प्रतिपादित राजयोग का स्वरूप असंदिग्ध रूप से बड़ा भ्रामक है। वास्तव में रूढ़ हठयोग के अतिरिक्त मन की शक्ति

की सम्पूर्ण अन्तर्मुखी प्रक्रियायें राजयोग के अन्तर्गत आती हैं। जितने भी प्रकार के अजपाजप हैं। सभी राजयोगिक ही हैं। चाहे वह लय योग हो और चाहे ध्यान योग हो और चाहे चित्त वृत्ति निरोध की अन्य कोई प्रक्रिया। इसके अतिरिक्त वेदान्तियों द्वारा निर्धारित चिन्तना द्वारा अहं निरसन की साधना भी राजयोग का विषय है। महर्षि रमण का 'Know thyself' (अपने को खोजो) वाला सिद्धान्त उपनिषदों में प्रतिपादित आत्म ज्ञान के सिद्धान्त का ही अधुनात्मक रूप है। नई सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को राजयोग के अन्तर्गत ही लेना चाहिये। अस्तु, वे सारी साधना पद्धतियाँ राजयोग के अन्तर्गत आती हैं, जिनमें चित्त वृत्ति निरोध का विधान किया गया है। निश्चय ही इनमें बाह्य प्रतीकों का आश्रय नहीं लिया जाता।

प्रश्न किया जा सकता है कि राजयोग के अन्तर्गत अनेक प्रकार की साधना पद्धतियों की प्रतिष्ठा का क्या कारण है? क्या चित्त वृत्ति निरोध के लिए एक ही साधना मार्ग पर्याप्त न था? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मानव का सदा से यह स्वभाव रहा है कि वह अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए कम से कम समय में सरल से सरल निर्विघ्न मार्ग का अभिलाषी होता है। राजयोग की अनेक साधनाओं के प्रवर्तन में भी उसकी यही मनोवृत्ति रही है। सन्तों ने अध्यात्मयात्रा के समग्र साधना-मार्गों को सरलता तथा जटिलता की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित किया है। उन वर्गों के नाम क्रमशः पिपीलिका, मीन और विहंगम मार्ग हैं। इन मार्गों के विषय में अन्यत्र विस्तार से प्रकाश डाला जायगा। इस स्थल पर केवल इतना ही अभीष्ट है कि सन्तों द्वारा स्वीकृत साधना-मार्ग विहंगम है।

राजयोग की इस विहंगम मार्ग की साधना का दूसरा पारिभाषिक नाम 'सुरति शब्द योग' है। महात्मा कबीर दास से लेकर आज तक

इस सन्त-परम्परा की साधना का महनीय इतिहास है। सन्तों के समीक्षकों ने इस परम्परा का उद्गम वेदों, उपनिषदों, बौद्धों के तन्त्र ग्रन्थों तथा सरहपा आदि सिद्धों में भी खोज निकाला है। इसमें सन्देह नहीं कि इस परम्परा का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। सन्तों द्वारा माग्य तथा प्रतिपादित योग की इस प्रणाली के विषय में कुछ लिखने से पूर्व हम यह देखना चाहते हैं कि अनेक अन्तर्मुखी साधना-पद्धतियों के होते हुए भी सन्तों ने 'सुरति-शब्द योग' पर ही क्यों सर्वाधिक प्रकर्ष दिया। आखिर, इस साधना पद्धति में ही क्या ऐसी विशेषता थी, जिसकी प्राप्ति के साथ वे अन्य साधना-पद्धतियों से उदासीन हो गए। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जीव को अपने स्वरूप की प्राप्ति पूर्ण 'अहं' (Ego) के निरसन में ही हो सकती है। उन्होंने अनुभव किया था कि अन्य साधनाओं के माध्यम से 'अहं' का सम्पूर्ण निरसन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। कबीर ने तो एक दोहे में इस ओर इङ्गित करते हुए 'सुरति योग' की स्थापना भी की है। वह दोहा इस प्रकार है:—

‘जपा मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय ।

सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नहिं खाय ।

जप अथवा जपा से उनका तात्पर्य भक्ति-परक वाह्य-साधनाओं से है तथा अजपा से वे उन अन्तर्मुखी साधना-प्रक्रियाओं की ओर संकेत करते हैं, जो राजयोगान्तर्गत हैं। वास्तव में 'सुरति-शब्द-योग' की सर्वाधिक महत्ता संस्थापन में महात्मा कबीर दास जी का यह कोरा प्रलाप नहीं है। 'सन्त-मत' में प्रवेश करने की सबसे पहली शर्त ही यह है कि आप 'दीन' बनें, 'निरभिमान' बनें। क्योंकि बिना निरभिमान हुए द्वैत-भावना से मुक्ति नहीं मिल सकती और बिना द्वैत के छोटे अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। कबीर ने एक दोहे में इस तथ्य को बड़े सुन्दर ढङ्ग में रखा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि ।

प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहि ॥

पर दैव्य का ग्रहण इतना सरल नहीं है । 'अहं' के ऊपर विजय प्राप्त करना हंसी खेल नहीं है । कबीर ने 'अहं' के पूर्ण उपसंहार को अत्यन्त कठिन माना है । वे अपने मार्ग में प्रवेश पाने के जिज्ञासु साधक के लिए शर्त लगाते हुए कहते हैं:—

शीश उतारै भुइं धरै, तापर राखै पाँव ।

दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव ॥

वास्तव में इस 'अहंकार' से मुक्ति पाना अपने हाथ से शिर काट कर उस पर पैर रख कर चलना ही है । 'अहंकार' की व्याप्ति अत्यन्त सूक्ष्म है । वह मानव-मन को अनेक रूपों में अपना दास बनाए हुए है । कोई भी इससे मुक्त नहीं हो सका । काम, क्रोध, मद तथा लोभ से पूर्ण निवृत्ति पाने पर ही तथा उनके द्रष्टा के रूप में ही इस अहं की कारा-से छुटकारा मिल सकता है । ऐसा होने पर ही साधक को आत्म-साक्षात्कार हो सकता है ।

'सुरति शब्द योग' में इस अहंकार से मुक्ति पाने का बहुत अच्छा विधान है । योग के इस प्रक्रिया के अभ्यासी होने पर शुभ और अशुभ कर्म नहीं बनते । मन स्वतः द्वैत से ऊपर उठ कर अपने स्वरूप में स्थित होने लगता है । और अन्ततोगत्वा वह सहज समाधि में लीन हो जाता है । इसके पूर्व कि मैं इस बात पर प्रकाश डालूँ कि मन पर यह चमत्कारिक प्रभाव कैसे पड़ता है, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि 'सुरति-शब्द योग' की साधना पर सक्षेप में प्रकाश डाला जाय ।

'सुरति-शब्द' योग में दो शब्द हैं—[१] सुरति तथा [२] शब्द । इन दोनों शब्दों के विषय में सन्तों के समीक्षकों के विभिन्न मत रहे

हैं। सर्व प्रथम मैं इन मतों के विषय में एक तालिका प्रस्तुत करूँगा, जो सन्तों के समीक्षकों ने 'सुरति' के सम्बन्ध में निर्धारित की है। डा० बड़थवाल ने अपने 'योग प्रवाह' के पृष्ठ २७ में सुरति को 'स्मृति' के अर्थ में ग्रहण किया है। डा० सम्पूर्णानन्द इसकी व्युत्पत्ति स्रोत से मानते हैं (विद्यापीठ चतुर्थ पत्रिका वाल्यूम २ पृष्ठ १३५) गुलाब साहब ने सुरति का अर्थ मन बतलाया है। (एम. बी. पृष्ठ १६६)। राधास्वामी मत वाले इस शब्द का अर्थ जीवात्मा मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सुरति का अर्थ अन्तर्मुखी वृत्ति से लिया है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने सुरति का अर्थ 'स्वरत' हो जाना लिया है। तात्पर्य यह है कि इस शब्द की मान्यता के विषय में अर्थ वैचित्र्य की एक अच्छी खासी प्रदर्शनी देखने को मिलती है। और इस अर्थ विपर्यय का मूल कारण उपर्युक्त विद्वानों की इस साधना के प्रति बौद्धिक अटकले रही हैं। यदि वे सुरति के साथ इस शब्द को जोड़कर अर्थ निकालने की चेष्टा करते तो यह विपर्यय न उपस्थित होता। यदि ये समीक्षक साधक होते तो उनकी एतद् विषयक उपपत्तियों में भेद न होता।

अस्तु, सुरति के ऊपर अपना अभिमत प्रकट करने के पूर्व यह आवश्यक है कि मन की प्रकृत को समझ लिया जाय। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि प्रकृत्या मन की गति परिधोन्मुखी है। और इसी हेतु वह विषयों में संलग्न रहता है और यही संसार का संसारत्व है। यह मन अपना चिर अन्वेषी है। किन्तु, ऐन्द्रिक विषयों में लिप्त होने के कारण उस शाश्वत आनन्द को नहीं प्राप्त कर पाता जो उसका चिर अभीष्ट है। अद्वैतवाद विश्व को केवल एक तत्त्व में निहित होना मानता है वह उस तत्त्व की संज्ञा ब्रह्म या परब्रह्म देता है। स्रष्टा होने के कारण उसका द्वितीय नाम है मूल प्रकृति। अतः मूल प्रकृति का जब अधोमुखी विवर्तन होता है (अर्थात् जब उसका अवरोहण

सूक्ष्मसे स्थूल की ओर होता है ) तो उसका प्रथम स्थूल रूप आकाश होता है । आकाश की तरङ्गों से वायु के संघर्षण से तेज अथवा अग्नि प्रकट होते हैं, अग्नि के संघर्षण से जल और तत्पश्चात् पृथ्वी का निर्माण होता है । और इसी पृथ्वी पर सम्पूर्ण जागतिक व्यापार चलते हैं । ब्रह्म का यह अवतरण जहाँ एक ओर स्थूल भूमि का पर्याय बन गया है, वही ब्रह्म से विद्युत् होकर आत्मा मन की सज्ञा प्राप्त करती है । गीता में आत्मा के इस विवर्तन को इस प्रकार कहा गया है:—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ॥

अर्थात् इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों—से सूक्ष्म मन है । मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से सूक्ष्म आत्मा है । और यही आत्मा परब्रह्म है । यही विवर्तन आरोहण पद्धति के अनुसार दिखाया गया है । आत्मा का अरोहण गत विवर्तन ठीक इसका विलोम है । अर्थात् ऐन्द्रिक विषयों को मन में लीन करना पड़ेगा, मन को बुद्धि में और बुद्धि को आत्मा में, तभी जीव को आत्म साक्षात्कार प्राप्त हो सकेगा । अस्तु इन्द्रियों का सम्राट मन ही हमारे बन्ध-मोक्ष का कारण है । इसकी प्रकृत गति को मोड़ कर ऊर्ध्वमुखी करने से ही हम अपने वास्तविक गृह को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके लिए कबीर ने बड़ी आकुलता से साथ एक पद में सभी से अनुनय की है, यथा, “हमको बहु घर कोउ न बतावा, कि जेहि घर ते जिउ आवा ।” कबीर की उलट-धारा इसी आरोहण सिद्धान्त पर अवलम्बित है । मन इसी पतनोन्मुखी वृत्ति की धारा को उलट देने से ही हम अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच सकते हैं । मन ही ने हमें आवागमन के चक्र में फँसा रक्खा है । इसकी शक्ति के बिना हमारा कल्याण नहीं । अस्तु, मन की इसी सतत निम्नगा वृत्ति को ऊर्ध्वमुखी करके शब्द के साथ नियोजित कर देना ‘सुरति-शब्द-योग’ है । मन की ऊर्ध्वमुखी चिन्तना

को सन्तों ने 'सुरति' की सज्ञा दी है। 'सुरति' को शब्द के साथ संलग्न करने की विधि सद्गुरु के उपदेश बिना संभव नहीं। अतएव सन्तों ने एक स्वर से सद्गुरु की महता स्वीकार की है। सद्गुरु के विषय में संत शिरोमणि तुलसी साहब की एक विनय भरी कुण्डलिया उद्धृत की जा रही है :--

बार बार बिनती करूँ, सतगुर चरन निवास ।  
 सतगुर चरन निवास बास मोहि दीन्हें लखाई ।  
 नित-नित करूँ बिलास पास घर अपने आई ॥  
 मैं अति पति, मति हीन दीन देखा मोहि साँई ।  
 लीन्हा अंग लगाय कहूँ अस कौन बड़ाई ॥  
 तुलसी मैं अति हीन हूँ दीन्ह अगम अवास ।  
 बार-बार बिनती करूँ, सतगुर चरन-निवास ॥

(तुलसी साहब शब्दावली भाग १ पृष्ठ ४३, पद २४)

दो शब्द सन्तों की शब्द-मान्यता के विषय में कह कर इस निबन्ध को समाप्त किया जा रहा है। प्रश्न उठता है कि वह कौन सा शब्द है जिसका गुण गान करने में सन्तों की जिह्वा नहीं थकती। निश्चय ही वह कोई साधारण 'शब्द' नहीं हो सकता। डा० त्रिगुणायत ने अपने शोधग्रन्थ 'कबीर की विचार-धारा' के पृष्ठ ३१४ पर 'सुरति शब्द योग' पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं, "शब्द ब्रह्म रूप है। सुरति को हम आत्म रूप मानेंगे। आत्मा-साधन के सहारे शब्द ब्रह्म में लीन करने की प्रक्रिया को ही 'शब्द-सुरति-योग' कहा गया है।" किन्तु, इससे कुछ स्पष्ट नहीं होता। क्योंकि यदि आत्म-साक्षात्कार हो जाय तो समझो ब्रह्म-साक्षात्कार हो गया। समझ में नहीं आता कि डा० त्रिगुणायत को आत्मा से क्या अभीष्ट है और ब्रह्म से उनका क्या तात्पर्य है? और शब्द से वे किस प्रकार से उसका

सम्बन्ध स्थापित करते हैं। शब्द के विषय में सन्त तुलसी साहब का मत इन सभी समीक्षकों से भिन्न है, शब्द सम्बन्धी उनकी मान्यता की एक कुण्डलिया नीचे दी जा रही है:—

शब्द शब्द सब कहत हैं और शब्द सुन्न के पार ।  
 शब्द सुन्न के पार सार सोई शब्द कहावै ।  
 पच्छिम द्वार के पार पार के पार समावै ॥  
 दो दल कवल मंझार मद्ध के मधि में आवै ॥  
 सन्तन दिया लखाय सार सोई शब्द कहावै ।  
 तुलसी सत सतलोक से कहूँ कुछ भेद विचार ।  
 शब्द-शब्द सब कहत हैं शब्द सुन्न के पार ॥

(तुलसी साहब शब्दावली भाग १ पृष्ठ ४२, कुण्डलिया २०)

उपर्युक्त कुण्डलिया के अन्तर्गत महात्मा तुलसी साहब ने ‘शब्द’ को ‘सुन्न’ के भी पार बतलाया है। इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी ‘शब्द’ की महत्ता स्वीकार की है। कबीर के उपर्युक्त दोहे में ‘सुरति समानी शब्द में ताहि काल नहिं खाय’ द्वारा ‘शब्द’ के अतिशय महत्त्व को स्वीकार किया गया है। सन्तों ने इस ‘शब्द’ के स्वरूप की व्याख्या अन्यत्र ‘रा रा कार’ अथवा ‘रं रं कार’ ध्वनि के रूप में की है। यह ध्वनि ‘राम !’ शब्द की पर्याय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सन्तों की मान्यता है कि इस शब्द का उच्चारण जिह्वा से नहीं हो सकता। इसकी ध्वनि को साधना द्वारा स्फुरित किया जाता है। अर्थात् यह अनुभव गम्य है। प्रसङ्ग पारिजात में (जो स्वामी रामानन्द जी का अधुनातम् प्रकाशित जीवन चरित है) इस शब्द अथवा नाम की व्याख्या इस प्रकार मिलती है “यह नाम ऊकार का प्राण है।” इसका भाव यह है कि वह शब्द रेफ ( र ) मात्र है। ऊँ से यदि [ र ] निकाल दिया जाय तो वह निर्जीव हो जायगा। और इस [ र ] का

उच्चारण जिह्वा से नहीं हो सकता । इसी शब्द में सुरति अथवा मन की अन्तर्मुखी वृत्ति को नियोजित करना पड़ता है और तभी उस शब्द को सुना जा सकता है । सन्तों का विश्वास है कि इस प्रकार शब्द का साक्षात्कार करने के पश्चात् साधक को आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता । मन का इसी शब्द के साथ सतत संयोग मनोलय है, सन्तों की सहज समाधि है । साधक को इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् फिर कुछ करने को नहीं रह जाता ।

‘सन्त-मत में साधना’ की प्रतिष्ठा इसी रूप में हुई है । इस साधना की प्रक्रिया को समझने वाले व्यक्तियों की संख्या आज कल बहुत कम है ।

---

# आध्यात्मिक साधना में पिपीलिका मीन और विहंगम मार्गों की परिकल्पना

आध्यात्मिक साधना में पिपीलिका मीन और विहंगम की प्रतिष्ठा चित्त वृत्ति निरोध के द्वारा परमानन्द की चरम उपलब्धि तथा सभी प्रकार से वासनाओं से मुक्ति प्राप्त करने की मान्यता के कारण ही संभव हो सकी होगी । निश्चय ही आध्यात्मिक शिखर पर पहुँचने के लिये पिपीलिका मीन और विहंगम मार्ग सरणियाँ हैं । इन मार्गों की सृष्टि क्रमशः ही हुई होगी किन्तु, ये अपने आप में भी पूर्ण हैं । आध्यात्मिक साधना मार्ग में इनकी स्थिति आज तक स्वतन्त्र ही देखी जाती है । किन्तु साधना प्रक्रिया के इतिहास में इनका विकास क्रमिक ही प्रतीत होता है । नीचे की पंक्तियों में इन साधना प्रक्रियाओं के महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है ।

सन्तों की बानियों का अध्ययन करते समय मुझे साधना के प्रकारों के उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों से परिचय हुआ किन्तु, इसके अतिरिक्त कि सन्त मत में स्वीकृत साधना का स्वरूप विहंगम मार्ग है और कुछ भी स्पष्ट न हो सका । सन्तों के समीक्षक तो प्रायः इस विषय में मौन ही हैं । बड़ी खोज के पश्चात् एक महात्मा की कृपा से निम्नलिखित

दोहा प्राप्त हुआ । इस दोहे में यद्यपि साधना की उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं का संकेत मात्र ही है फिर भी वह इतना पर्याप्त है कि उसके आधार पर इन मार्गों का विशद विवेचन किया जा सकता है । वह दोहा इस प्रकार है—

१ कंठ की जाप पिपीलिका, स्वांसा की है मीन ।

२ सूरत जाप विहंग है, जानत परम प्रवीन ॥

अर्थात् कंठ द्वारा जप की विधि पिपीलिका मार्गान्तर्गत है । स्वांस-प्रस्वास द्वारा मीन और सुरति द्वारा विहंगम मार्ग का जप है । दोहे के शब्दार्थ साधनाओं की सभी प्रक्रियाओं को घेरता है । जैसा कि निम्नांकित विवेचन से स्पष्ट हो जायगा ।

पिपीलिका मार्ग — दोहे में संक्षेप में 'कंठ की जाप पिपीलिका' कहकर साधना के पिपीलिका मार्ग पर प्रकाश डाला गया है । किन्तु दोहा के रचयिता को केवल इतना ही कहना अभीष्ट नहीं है । जप द्वारा साधना की जितनी भी स्थूल-सूक्ष्म प्रक्रियायें हैं वे शरीर के स्थानों में कंठ तक आकर समाप्त हो जाती हैं । इस स्थल पर दोहाकार का अभिप्राय साधना की आभ्यन्तर सृष्टि की ओर अधिक प्रकर्ष देता हुआ प्रतीत होता है क्योंकि उसने कंठ में स्थित विशुद्ध चक्र द्वारा जप की बात कही है । अस्तु, पहले उसी पर विचार किया जायगा । किन्तु इसके पूर्व यह आवश्यक है कि पिपीलिका शब्द का अर्थ साधना की संगति में समझ लिया जाय । पिपीलिका का शाब्दिक अर्थ चींटी है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं कि चींटी की गति अत्यन्त मन्द होती है और साथ ही उसमें प्रलोभन का इतना आकर्षण होता है कि यदि उसके मनोनुकूल आकर्षणों की व्यवस्था कर दी जाय तो कदाचित् ही अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सके । यदि उसके प्राप्तव्य-मार्ग में शक्र की व्यवस्था कर दी जाय तो फिर वही उसका गन्तव्य हो जायगा । वह फिर कदाचित् कभी आगे बढ़ सके । पिपीलिका का प्रतीक साधना-

मार्ग में इसी अभिप्राय को प्रकट करता है। साधना के इस मार्ग में आकर्षणों की कमी नहीं है। मूलाधार चक्र से लेकर विशुद्ध चक्र तक की मनोनिग्रह प्रक्रिया में आकर्षणों की इतनी विविधता है कि उनकी अनन्तता की माप नहीं की जा सकती। वेचारा साधक इन्हीं मनोरम आकर्षणों में रम जाता है और प्रायः अपने लक्ष्य को ही विस्मृत कर बैठता है। ये आकर्षक अवरोध साधक के समक्ष सिद्धियों के रूप में प्रकट होते हैं। इन सिद्धियों की प्राप्ति के साथ साथ साधक में अद्भुत शक्ति आ जाती है। अष्ट सिद्धियों के चमत्कारों तथा ऐश्वर्यों को इस स्थान पर दोहराने की आवश्यकता नहीं है। इन आकर्षक एवं शक्तिशाली सिद्धियों के अतिरिक्त इस मार्ग में कुछ भयंकर अवरोध भी हैं। चक्रों पर ध्यान केन्द्रित करने पर कभी कभी भयंकर कष्ट भी होता है। यह कष्ट कभी जीवन-मरण का प्रश्न भी बन सकता है। सायास चक्र चालित करने में अनेक खतरों का सामना करना पड़ता है। रूढ़ हठयोग की साधना प्रक्रिया भी पिपीलिका मार्ग के ही अंतर्गत आती है। इसमें कायाकष्ट और प्राणायाम के माध्यम से केवल सिद्धियों की ही प्राप्ति होती है। चक्रों पर मन को एकाग्र करने का प्रयास रूढ़ हठयोग के अन्तर्गत ही लेना चाहिये किन्तु तत्त्वदर्शी महात्माओं ने सिद्धियों की प्राप्ति को योग की चरम उपलब्धि नहीं माना। क्योंकि इस प्राप्ति से मन के विकल्पों के ऊपर ही अशान्ति तथा असन्तोष का अधिष्ठान है। और निश्चय ही साधना की इस प्रक्रिया द्वारा मन पर शास्ति नहीं की जा सकती।

किन्तु साधना की व्याप्ति केवल रूढ़योग तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि पहली दृष्टि में दोहे से यही प्रकट होता है। इस साधना के अंतर्गत सभी प्रकार के जप तथा पाठ भी सम्मिलित हैं। जप और पाठ करने की प्रक्रियायें प्रायः द्विविध देखी जाती हैं— (१) सविकल्प (२) निर्विकल्प, भक्तों के पारिभाषिक शब्दों के अनुसार हम उन्हें सकाम तथा निष्काम कह सकते हैं। सकाम भक्ति फल की कामना से

ही की जाती है और फल की प्राप्ति के साथ ही उसका उद्देश्य समाप्त हो जाता है, इसमें मनोनिग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता। निष्काम भक्ति साधना की लम्बी प्रक्रिया है। इसके मार्ग में अनेक प्रकार के सिद्धि-जनक प्रलोभनों के आने के अतिरिक्त कायाकष्ट के विविध रूपों का सामना करना पड़ता है। और तब भी मन की समग्र शान्ति संदिग्ध हो रहती है। कीर्त्तन, यज्ञ तथा कर्मकाण्ड की अन्य प्रक्रियाओं का समावेश पिपीलिका मार्ग के अंतर्गत ही समझना चाहिये।

मीन मार्ग पिपीलिका मार्ग से आध्यात्मिक उपलब्धि और साधन प्रक्रिया में अधिक सूक्ष्म है। दोहे में इसे 'श्वासा' का 'जप' कहा है। अर्थात् श्वास-प्रश्वास द्वारा 'सोऽहं' 'राम' अथवा 'ऊँ' 'हंसः' का जप मीन मार्ग के अन्तर्गत आता है। इस मार्ग में पिपीलिका मार्ग की अपेक्षा काया कष्ट कम है तथा यह प्रक्रिया ( पिपीलिका मार्ग ) से अधिक सूक्ष्म है, यह मानसी जप के अंतर्गत ग्रहण की जा सकती है, इसलिए इसमें चांचल्य को स्थिर करने की अधिक क्षमता है। किन्तु जिस प्रकार जल के बिना मीन निष्प्राण तथा गति हीन है उसी प्रकार श्वास तथा नामाश्रय के अभाव में यह जप भी निर्जीव है। इस जप में सूक्ष्मता होने पर भी अधिष्ठान की महती आवश्यकता है। साधक को 'सोऽहं' 'राम' अथवा 'ऊँ' की सत्यता आर्यग्रन्थों तथा परम्परागत मान्यता के आधार पर ही स्वीकार करनी पड़ती है। अतएव इसके द्वारा आध्यात्मिक उपलब्धि पूर्ण तथा कल्पना के दामन से नहीं हो सकी है। मन कभी-कभी तो 'राम' 'ऊँ' की सत्यता पर ही विश्वास नहीं कर पाता। साधक सोचता है कि ये शब्द विराट की परिकल्पना पूर्ण कर सकने में सूक्ष्म हैं। और उसका इस प्रकार का विचार मन की एकाग्रता को इतस्तः करके आस्थाहीन बना देता है और बिना आस्था और दृढ़ विश्वास के योग की कोई प्रक्रिया सम्भव नहीं है। अतएव अध्यात्म के चरमतत्त्व को प्राप्त करने वाले ऋषियों का यह मत है

कि मीन मार्ग द्वारा आध्यात्म की चरम उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस मार्ग से कुछ समय के लिए मनोलय तो सम्भव है किन्तु शाश्वत मनोलय तभी सम्भव है जब वासनाओं का, अहं का पूर्ण निरसन हो जाय। इसीलिए साधना का क्षेत्र में उनका सतत प्रयास जारी रहा है और उन्होंने विहङ्गम मार्ग में 'अहं' के पूर्ण निरसन द्वारा आत्म-तोष प्राप्त किया।

विहङ्गम मार्ग के लिये दोहे में केवल इतना ही सांकेतिक उल्लेख प्राप्त होता है कि "सूरति जाप विहङ्ग है। जानत परम प्रवीन" अर्थात् 'सूरति शब्द' के माध्यम से जप की प्रक्रिया को 'विहङ्गम' कहते हैं, इसे केवल 'परम प्रवीन' ही जानते हैं। इस प्रक्रिया के जप को पारिभाषिक शब्दों तक ही सीमित रखा है। उसके रहस्य को उद्घाटित नहीं किया। वैसे तो प्रायः प्रत्येक कला तथा विज्ञान के लिये अधिकारी व्यक्ति की ही आवश्यकता होती है किन्तु आध्यात्म मार्ग में अधिकारी की छानबीन का सर्वाधिक आग्रह है। आजकल आध्यात्मिक क्षेत्र में एक नारा अपने पूर्ण प्रवेग के साथ घुस आया है, वह नारा है 'मिशनरी स्प्रिट' अर्थात् संसार की कोई भी वस्तु गोपनीय न रहनी चाहिए। उसे सर्व सुबोध बनाना चाहिए और जो ऐसा नहीं करते उन्हें रूढ़िवादी आदि विशेषज्ञों से अलंकृत किया जाता है। इस विचार-धारा को प्रभावित करने के लिए अनेक मिशनरियों की स्थापना की गई है। इन 'मिशनरों' द्वारा आध्यात्मिक प्रचार तो नहीं स्वविज्ञापन अपनी चरमावस्था पर पहुँच गया है। अस्तु आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को गोपनीय रखने के लिये मूल में ऋषियों का एक गहरा उद्देश्य रहा है और वह उद्देश्य यह कि कहीं अनधिकारी के हाथ में पड़कर समाज में इसका दुरुपयोग न हो। कहीं सिद्धियों के चमत्कारों के प्रदर्शनों द्वारा आध्यात्म की गलत मान्यता न हो जाय। और ऐसा हुआ भी जिसका प्रभाव आजकल भी कम नहीं है। साधारण जनों की तो बात ही छोड़िये सुधी जन भी 'चमत्कार' को ही आध्यात्म मानने लगे हैं

और चमत्कारी व्यक्ति को ही पहुँचा हुआ अर्थात् सिद्ध कहते हैं। मेरे उपर्युक्त कथन का मात्र प्रयोजन यह है कि प्राचीन ऋषि उपर्युक्त कारणों से 'साधना प्रक्रिया' को सार्वजनिक बनाना नहीं चाहते थे। वे जिज्ञासु के समक्ष उसकी पूर्ण परीक्षा के पश्चात् ही साधना-रहस्य का उद्घाटन करते थे। और इसी कारण आज तक योग सिखाने की संस्थाओं का नाम तक नहीं सुना गया। अस्तु उपर्युक्त दोहे में भी विहंगम मार्ग की प्रक्रिया का उद्घाटन न करके पारिभाषिक शब्दों के द्वारा संकेत मात्र करने में प्राचीन प्रणाली का अनुसरण किया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है आध्यात्मिक साधना की उपलब्धि मनोलय द्वारा 'अहं' का पूर्ण निरसन है। पिपीलिका मीन और विहंगम मार्ग की आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा इसी 'अहं' को निर्मूल करने का यत्न किया जाता है किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है कि पिपीलिका और मीन मार्ग के द्वारा 'अहं' का पूर्ण निरसन प्रायः संदिग्ध है। क्योंकि ये मार्ग बाह्य उपकरणों की सहायता में विश्वास करते हैं। इनका पूर्ण 'अहंकार' (Attachment) अभी नहीं छूटा है। इन्हें अपने अस्तित्व का भी ज्ञान है और दूसरे की स्थिति भी स्वीकार करते हैं और निश्चय ही इस द्वैत से उनके मन की वृत्ति का पूर्ण निग्रह असंभव ही प्रतीत होता है। जब तक मन की वृत्ति पूर्ण तथा निर्विकल्प नहीं हो जाती तब तक पूर्ण मनोलय हो ही कैसे सकती है? इसलिये मन को केवल करने के लिये उसे निर्विकल्प साधना मार्ग में नियोजित करना होगा। उसे निराश्रित तथा निरावलंब करना होगा, क्योंकि सर्वाधार निराधार है, अतएव उसकी प्राप्ति के लिये भी किसी प्रकार के विकल्प अथवा विग्रह को नहीं स्वीकार किया जा सकता। 'मुरति-शब्द' के मार्ग के आविष्कार तथा प्रतिष्ठा में आध्यात्म मार्ग की चरम प्राप्ति का जप घोष निनादित हुआ है। परन्तु उसके पूर्व कि मैं इस प्रक्रिया पर प्रमाण डालूँ यह आवश्यक प्रतीत होता है कि अजपा-जप

के कुछ अन्य प्रकारों पर भी विचार कर लिया जाय । क्योंकि 'अजपा-जप' के प्रकारों के अन्तर्गत साधना की सभी सूक्ष्म प्रक्रियायें गृहीत होती हैं । मैंने ऊपर कहा है कि 'पिपीलिका' मार्ग अथवा स्थूल उपकरणों के माध्यम से मन के संयम के अतिरिक्त जितनी सूक्ष्म प्रक्रियायें हैं, वे सभी 'अजपा' के अन्तर्गत स्वीकार की जानी चाहिए । सभी प्रकार के मानसी जप अथवा साधनायें 'अजपा'-जप के अन्तर्गत आती हैं । 'अजपा-जप' में हाथ और जिह्वा का बिल्कुल प्रयोग नहीं होता । और मानसी जपों की भी यही परिभाषा है । इस प्रकार के जप अनेक हैं । उदाहरणार्थ श्वास से जप, चक्रों का ध्यान, त्राटक आदि रखे जाते हैं । इसी अनुक्रम में कबीर आदि सन्त-कवियों द्वारा प्रतिष्ठित 'सुरति शब्द' का अजपा भी आता है ।

१६५८ ई० के अगस्त के 'समालोचक' में श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का एक निबन्ध "नवीन उपनिषद और सन्त वैष्णव मत" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है । उसमें अजपाजप के स्वरूप का उल्लेख करता हुआ विद्वान् लेखक कहता है कि, "ध्यान बिन्दु-उपनिषद में 'अजपाजप' का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है :—

“हकारेण बहिर्याति, सकारेण विशेत्पुनः  
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं, जीवो जपति सर्वदा”

उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुये लेखक अगली पंक्तियों में कहता है कि, “जीव प्रत्येक क्षण 'हंसः' 'अहंसः' ( मैं बड़ हूँ ) यह जप करता रहता है । प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में यही ध्वनि निकलती रहे, यही 'अजपा-जप' है । 'सः' कहने से श्वास का प्रवेश हो व 'हः' कहने से श्वास बाहर जाय बस यही अजपाजप है । कबीर इसी अजपा के जपी थे ।” मुझे विद्वान् लेखक की उपर्युक्त स्थापना से यत्किंचित् विरोध है अर्थात् जहाँ वह कहते हैं कि यह भी अजपा-जप है, वहाँ

मेरा धिनभ्र संशोधन है कि यह भी 'अजपाजप' है। किन्तु कबीर इस अजपा-जप के असंदिग्ध रूप से 'जपी' नहीं थे।

उपर्युक्त 'अजपा जप' की प्रक्रियाओं को मीन मार्गान्तर्गत लिया गया है जैसा कि मेरे द्वारा उद्धृत दोहे से स्पष्ट है। 'मीन मार्ग' को स्पष्ट करते समय इस प्रक्रिया पर प्रकाश डाला जा चुका है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है संतमत में 'विहंगम' मार्ग को ही प्रतिष्ठा मिली थी। कबीर ने स्वयं ही अपने साधना-मार्ग का उल्लेख करते हुए कहा है :—

जपा मरै अजपा मरै अनहद हूँ मरिजाय ।

सुरति समानी शब्द में ताहि काल नहिं खाय ॥

उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट है कि वे अजपा की अन्य प्रक्रियाओं को मुक्ति का साधन नहीं मानते। उनकी आस्था केवल सुरति शब्द के अजपा में ही है। अस्तु कबीर का साधन मार्ग 'ध्यान विन्दु उपनिषद' में उल्लिखित अजपाजप से पूर्णतया पृथक् है।

सन्तों ने अपने साधना मार्ग को विहंगम मार्ग कहा है। जिस प्रकार पक्षी आकाश में निराधार उड़ता है उसी प्रकार लक्ष को उद्दिष्ट करके 'सुरति' रूपी पक्षी भी बिना किसी विग्रह अथवा विकल्प के निराधार उड़ता है। इसीलिये इस योग की चरमउपलब्धि, 'समाधि' को निर्विकल्प कहा है। 'शब्द' में 'सुरति' की सार्वकालिक 'निरति' को कबीर आदि सन्तों ने सहज समाधि' के नाम से अभिहित किया है। किसी भी स्थूल नाम अथवा विग्रह को साधना का माध्यम बनाकर निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकनी और न ऊपर उल्लिखित सत्य अथवा ईश्वर के सर्वाधार स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है, जिसकी अवस्थिति निराधार मानी गई है।

सन्तों को 'सुरति शब्द अजपा' की साधना प्रक्रिया के महात्म्य-

गान से तृप्ति नहीं होती। वे उसे गद्गद् कंठ से अनेक बार स्वीकार करते हैं। नीचे की पंक्तियों में उसके नाम के प्रति इन महिम उद्गारों का यत्किंचित् वर्णन किया जा रहा है। शब्द-वाण से आहत महात्मा केशवदास जी अपने 'अमिय घूँट' में उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं।

छन्द-निरखि आपु अवात नही, सकल सुख रस सानिये।

पिवहि अमृत सुरति भरकरि सन्त बिरला जानिये।

कोटि विशु अनन ब्रह्मा सदा सिव जेहि ध्यावहीं।

सोइ मिलेउ सहज सरूप 'केसो' अनंद मंगल गावहीं।

( अमीघूँट पृ० ३ )

अथवा

सुरति समानी ब्रह्मा में, दुविधा रह्यो न कोय

केशव सम्भलि खेत में, परै सो सम्भलि होय

सात दीप नव खण्ड के उपर अगम अवास

शब्द गुरु केशव भजै सो जन पावै वास

ऐसो सन्त कोइ जानिहैं सत्त शब्द सुनि लेह

केशव हरि सो मिलि रहो न्योछावरि करि देह

( केशवदास जी की अमीघूँट साखी पृष्ठ ११ )

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

उपर्युक्त उद्धरणों में महात्मा केशवदास ने सुरति शब्द के प्रति जो दृढ़ आस्था प्रकट की है, उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं। निस्सन्देह उनकी यह आस्था कोरी कल्पना मात्र ही नहीं है, वरन् इसकी पृष्ठभूमि में साधना के अनुभवों के ठोस निष्कर्ष भी सम्मिलित हैं, निश्चय ही इन महात्मा ने साधना की अन्य पद्धतियों का अभ्यास करने के पश्चात् ही 'सुरति शब्द' की साधना को मूर्धन्य कहने का

साहस किया होगा ।

महात्मा 'केशवदास' के अतिरिक्त अन्य सन्तों ने भी इस साधना मार्ग की सर्वोपरि महत्ता मुक्तकंठ में स्वीकार की है । इस स्थल पर दो एक के उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा । महात्मा कबीरदास 'नाम' अथवा 'शब्द' रूपी घूँटी पीकर पागल हो गए हैं । निम्नलिखित पद में उनकी उन्ही के मुख से सुनिए :—

गुरु मोहि घुटिया अजर पियाई ॥ टेक  
जब से गुरु मोहि घुटिया पियाई, भई सुचित मेरी दुचिताई  
नाम औपधि अधर कटोरी पिपत अचाइ कुमति गई मोरी  
ब्रह्मा 'विशु' पिये नहि पाये, खोजय सम्भू जन्म गंवाये  
सुरत निरत कर पिये जो कोई, कहै कबीर अमर होय सोई

अर्थात् "गुरु ने मुझे 'अजर घूँटी' पिला दी है । जब से उन्होंने मुझे यह घूँटी पिलायी है मन ने अपने संकल्प-विकल्प को छोड़ दिया है और उसकी द्विविधा मिट गई है । मैंने अधर रूपी कटोरी से नाम रूपी औषधि का पान कर लिया है और उसको तृप्ति भर पीने के पश्चात् मेरी कुमति चली गई है ।" आगे की पक्तियों में कवि उस नाम की दुर्लभता को वर्णित करते हुए कहता है "उस नाम रूपी घूँटी की खोज में ब्रह्मा, विष्णु और गणेश ने अनेक जन्म व्यतीत कर दिये हैं । किन्तु उसे फिर भी प्राप्त नहीं कर सके ।" अन्तिम पक्ति में कबीर ने उसके प्राप्त करने का रहस्य का उद्घाटन करते हुये कहा है कि, "सुरति निरतर नृत्य में निरत करके अर्थात् सुरति को निरंतर शब्द के साथ नियोजित करके जो उस नाम रूपी घूँटी का पान करेगा, वह अमरत्व को प्राप्त करेगा, अर्थात् वह आवागमन के चक्कर से मुक्ति पा जायेगा ।"

'सन्तमत' की सधना में प्रतिष्ठित यह 'शब्द' साधारण महत्व का

नहीं है। वरन् ये इस सृष्टि के उद्भव से लेकर विनाश तक समग्र कार्य, व्यापार का प्राण मानते हैं। इस संदर्भ में कबीर का निम्न-लिखित पद उल्लेखनीय है :—

साधो सब्द साधना कीजै ।

जेहि सब्द ते प्रगट भये सब, सोई गहि लीजै । टेक ॥  
 सब्दहि गुरु सब्द सुनि सिप भये, सब्द सो बिरला सूझै ।  
 सोई सिष्य सोइ गुरु महातम, जेहि अन्तर्गति सूझै ॥१॥  
 सबदै वेद पुरान कहत है, सबदै सब ठहरावै ।  
 सबदै मुर मुनि सन्त कहत है, सब्द भेद नहि पावै ॥२॥  
 सब्द सुनि सुनि भेष धरत है, सब्द कहै अनुगामी ।  
 षट दरसन सब सब्द कहन है, सब्द कहै बैरागी ॥३॥  
 सबदै माया जग उतपानी, सबदै केर पसारा ।  
 कहै कबीर जहँ सब्द होत है, तीन भेद है न्यारा ॥४॥

(कबीर साहब की शब्दावली, पृष्ठ ४ शब्द ७)

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।

कबीरदास के उर्युक्त 'शब्द' में शब्द की महनीयता का सागचित्र उपस्थित किया गया है। उनकी मान्यता के अनुसार सृष्टि का कोई भी कार्य बिना 'शब्द' के नहीं हो सकता। शब्द का ताना बाना सृष्टि के चारों खूटों को बांधे हुये है किन्तु अन्तिम पंक्ति में कबीरदास जी एक विचित्र बात की ओर संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि जिस स्थान से इस 'शब्द' का स्फुरण होता है उसका भेद बिल्कुल 'न्यारा' है। निश्चय ही उनका संकेत 'मुरति शब्द' की साधना की ओर है जिसकी साधना प्रक्रिया सदा से ही गुप्त चली आई है। कबीर द्वारा प्रयुक्त 'भेद' शब्द इसी ओर इंगित करता।

‘सुरति शब्द’ के अजपा के विषय में ‘पलटू साहिब की बानी’ से एक कुंडलिया उद्धृत करके इस प्रसंग को समाप्त किया जा रहा है:-

खेलु सितानी फाग तू बीती जात बहार ॥

बीती जात बहार सबत लगने पर आया ।

लीजै दुपक वजाय मुभग मानुस तन पाया ॥

खेलो घूँघट खोलि लाज फागुन में नाही ।

जेइ कोउ करिहै लाज काज ना सपनेउ मांही ॥

प्रेम की माट भराय सूरति की कस पिचकारी ।

ग्यान अभीर बनाय नाम की दीजै गारी ॥

पलटू रहना है नही मुपना यह संसार ।

खेलु सितानी फाग तू बीती जात बहार ॥

जहाँ प्रतीक और रूपक योजना का उपर्युक्त कुंडलिया में संगुफित रूप उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि करता है, वही ‘सुरति शब्द’ (नाम) की प्रतिष्ठा करने में भी अनुपम है । ‘सुरति शब्द’ को साधना सम्बन्धी इतनी विवेचना पर्याप्त है ।

दो शब्द इस साधना की उपलब्धि के महत्व पर कह कर इस निबंध को समाप्त किया जा रहा है । प्रायः सन्तों के आलोचकों ने ‘सुरति शब्द’ की साधना को निर्गुण या निर्गुणिये सन्तों की साधना कहा है । उनके इस कथन से जहाँ सन्तों के ऊपर नीरसता का आरोप होता है, वहाँ इस साधना-पद्धति पर नीरसता का लांछन भी लगता है । इसके उत्तर में मुझे मात्र इतना ही कहना है कि इस प्रणाली के विरक्त सन्तों ने भी (क्योंकि इस मार्ग के अनुयाइयों में गृहस्थों की संख्या विरक्तों से अधिक है) कभी धरद्वार छोड़कर विरक्त होने के लिए किसी से नहीं कहा । और उन्हें सर्वथा निर्गुण मतावलम्बी भी कहना औचित्य की मर्यादा का उल्लंघन करना है । वास्तव में इस साधना पद्धति में भक्ति और ज्ञान अथवा भावना तथा बुद्धि का चरम

समन्वय प्राप्त होता है। नीचे के उद्धरणों से मेरे कथन की पुष्टि हो जायेगी। भक्ता सहजोबाई श्री चरणदास की शिष्या थीं। महात्मा चरणदास को हिन्दी आलोचकों ने निर्गुणिया सन्त माना है। भक्ता 'सहजोबाई की बानी' में 'निर्गुन सगुन संशय निवारण भक्ति का अंग' स्तम्भ में राम और कृष्ण के अवतार को स्वीकार करती सहजोबाई कहती है:—

कहा कहूँ कहा कहि सकूँ, अचरज अलख अभेव ।  
सुने अचंभो सो लगै, सहजो ब्रह्म अलेव ॥  
वही आप परगट भयो, ईसुर लीलाघार ।  
माहि अजुध्या और वृज, कौतुक किये अपार ॥

इतना ही नही—

चार बीस अवतार धरि जन की करी सहाय ।  
राम कृष्ण पूरन भये, महिमा कही न जाय ॥

(सहजोबाई की बानी पृ० ४०)

वेलवेडियर प्रेस इलाहाबाद

इसके असिखित साधना के प्रसंग में वे अन्यत्र साक्षात्कार को स्वीकार करती हुई कहती हैं—

दो पग धन्धा जगत का लागि रहै दिन रैन ।  
कुटंब महा दुख देत है कैसे पावै चैन ॥  
कैसे पावै चैन बिना साधू की संगत ।  
दुनियाँ रंग पतंग मजीठी गुरू की रगत ॥  
जन्म मरन ता सूरू घुटै सहजो दरसै राम ।  
चौरासी के दुख मिटै पावै निजपुर धाम ॥

'सहजो दरसै राम' के द्वारा सन्तों द्वारा प्रतिष्ठित 'ज्ञाकी' की ओर स्पष्ट संकेत है। सहजो के अतिरिक्त भक्ता 'भीराबाई' के पद तो सभी भक्तों, साहित्यकारों तथा संगीतज्ञों के कंठाभरण बने हुए हैं।

भक्ता मीराबाई प्रसिद्ध सन्त रविदास अथवा रैदास की शिष्या थीं । रैदास स्वामी रामानन्द के द्वादश शिष्यों में से एक थे । वे महात्मा कबीर के गुरुभाई थे । अतएव भक्ता मीराबाई भी सन्त मत में प्रतिष्ठित 'सुरति शब्द योग' की जपी थीं । इसे उन्होंने स्वीकार भी किया है । इसलिये उसमें सन्देह के लिये स्थान नहीं । मीराबाई कृष्ण के साकार रूप को मानती थी, इसमें किसी प्रकार के विकल्प को स्थान नहीं । और न उनकी योग की चरम उपलब्धि में ही किसी को सन्देह है ।

अस्तु मेरे ऊपर के समग्र विवेचन से इस निष्कर्ष पर बड़ी सरलता से पहुँचा जा सकता है कि 'सुरति शब्द' का अजपा-जप भक्ति और ज्ञान का चरम समन्वय है और साधना-प्रक्रिया के इतिहास में जीवन की समग्र दृष्टि सन्त-मत में प्रतिष्ठित इसी साधना को प्राप्त है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पिपीलिका तथा मीन मार्गान्तर्गत साधना की प्रक्रियाएँ कम महत्वपूर्ण हैं । वायुयान के आविष्कार के पश्चात् बैलगाड़ियाँ, रेलगाड़ियाँ तथा मोटरगाड़ियों की आवश्यकता है । और यही आवश्यकता उनके महत्व का प्रमाण है । जिसकी जैसी रुचि, आवश्यकता तथा आस्था होती है वैसे वाहन को स्वीकार करता है, इसमें विवाद के लिये गुंजाइश नहीं । ठीक यही बात साधना की उपर्युक्त प्रक्रियाओं के विषय में भी कही जा सकती है ।

---

# सन्त मत में नाम अथवा शब्द की मान्यता

सन्त मत की साधना में जहाँ एक ओर गुरु को अत्यन्त महनीय स्थान मिला है, वहीं नाम अथवा शब्द को भी अप्रतिम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। यदि हम संक्षेप में सन्त की परिभाषा करना चाहे तो कह सकते हैं कि, “सन्त मत सद्गुरु निर्देशित वह साधना मार्ग है जिसका केन्द्र नाम अथवा शब्द है और जिसकी परिधि विश्व-ब्रह्माण्ड का भी अतिव्रमण करती हुई असीम है। अर्थात् वह अस्ति-नास्ति से भी परे है।” सन्तों की जिह्वा इस नाम अथवा शब्द की सराहना करते हुए नहीं थकी। कबीर से लेकर आज तक के सन्त परम्परा के साधकों ने इसकी महिमा नत शिर होकर स्वीकार किया है। किन्तु साधारण जन तथा वे विद्वान् जिनका उपनयन (Approach) बौद्धिक रहा है, इस नाम अथवा शब्द को स्थूल रूप से ही समझते आए हैं। मैं इस निबन्ध में इस भ्रम के निवारणार्थ यथा शक्य प्रयास करूंगा।

नाम अथवा शब्द सम्बन्धी यह भ्रम गोस्वामी तुलसीदास द्वारा नाम महिमा की प्रतिष्ठा करने वाली इस चौपाई, “कलयुग केवल नाम आधार” द्वारा उद्घात हुआ जान पड़ता है। जप-तप, योग और यज्ञ के पश्चात् केवल नाम स्मरण द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिये गोस्वामी जी

ने अद्भुत वकालत की है। उनकी इस पंक्ति से प्रेरणा पाकर इस विशाल देश के प्रायः प्रत्येक भाग में अनेक कीर्तन मण्डलियों ने नाम संकीर्तन द्वारा मुक्त होने की ठान ली है। प्रायः प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय में माला के माध्यम से राम, कृष्ण, शिव, देवी आदि के नाम का जप प्रचलित है। किन्तु नाम स्मरण की इन सभी प्रणालियों द्वारा आज तक मोक्ष अथवा मुक्ति पद प्राप्त करने वाले तो क्या मोक्षोन्मुख व्यक्ति भी नहीं देखे गए।

गोस्वामी तुलसीदास के भी पूर्व ही नाम संकीर्तन के अद्भुत प्रतिष्ठाता बङ्ग प्रदेश के महाप्रभु चैतन्य हुए हैं। हरि नाम कीर्तन प्रणाली का अधुनातम रूप महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित कीर्तन-प्रणाली द्वारा ही अतिशय रूप से प्रभावित प्रतीत होता है। मृदङ्ग, करताल तथा मजीर का कीर्तन के साथ प्रयोग उसी परम्परा का समर्थन करता है। महाप्रभु चैतन्य के सामीप्य में चाहे संकीर्तनों में व्याप्त भक्त समुदाय भाव समाधि में निमग्न होकर प्रभु का साक्षात्कार करने का परम लाम प्राप्त कर सका हो किन्तु कालान्तर में भावों को कुभावों में परिवर्तित होना अधिक पाया गया है। मुझे इस निबन्ध में वैष्णवों द्वारा प्रवर्तित नाम-संकीर्तन के विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है। मुझे तो इस स्थल पर यही कहना है कि वैष्णवों द्वारा मान्य नाम संकीर्तन से सन्तों द्वारा मान्य नाम अथवा शब्द की साधना में कीई भी साम्य नहीं है, जैसा कि अनेक विद्वानों तथा जन साधारण को भ्रम है। प्रथम में नाम-संकीर्तन बहिर्मुखी है और द्वितीय में नाम-साधना अन्तर्मुखी है।

सन्तों का नाम अथवा शब्द वैष्णवों की भांति केवल स्थूल सत्ता नहीं रखता, वरन् अपनी परिधि में चराचर घिरे हुए हैं। उनका नाम सर्जक, पालक तथा संहारक है। उसकी प्राप्ति के पश्चात् कुछ प्राप्त करने को नहीं रह जाता। सन्त-मत की साधना में साधक का वही नाम अथवा शब्द, चरम लक्ष्य है। सन्तों की इस पर अगाध श्रद्धा

है। उनकी वाणी इसकी गारिमा का गान करती हुई नहीं थकती। महात्मा जगजीवन साहब इस 'शब्द' या 'नाम' की महिमा का वर्णन करते हुये कहते है :—

साधो दुइ अच्छर तत सार ।  
 सोई रटत रहौ घट भीतर,  
 और न करहु विचार । १ ।  
 जिश्या जपु नहि कर माला नहि,  
 सहज रमहु ससार ।  
 कहहु न प्रगट भेद काहू ते,  
 होइहि कहे बिगार । २ ।  
 सुच ओ अमुच न मानह एको,  
 सहज अचार विचार ,  
 ऐसी रहनि गहनि करि रहिए,  
 मिलन न ता बहु बार । ३ ।  
 कही पुकार बिचार लेहु मन,  
 और न मत अधिकार ।  
 जग जीवन विस्वास करे सुनि,  
 उतरि जाय भव पार । ४ ।

(जगजीवन साहब की बानी पृष्ठ ८०, शब्द ७४)

उपर्युक्त पद में महात्मा जगजीवन साहब ने 'शब्द' या नाम को सम्पूर्ण तत्व-ज्ञान का सार स्वीकार किया है। निश्चय ही उनका संकेत 'राम' नाम से है। वैष्णव भक्तों ने भी इस 'राम' नाम को अत्यन्त महत्ता दी है। किन्तु जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, उनका नाम स्मरण बहिर्मुखी है, स्थूल है। और सन्तों का नाम जप या स्मरण अन्तर्मुखी है, सूक्ष्म है। 'सोई रटत रहौ घट भीतर' से जगजीवन साहब ने इसी ओर संकेत किया है। अगली पंक्ति में उन्होंने अपनी माया की ओर

भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। 'जिग्वा जपु नहि कर माला नहि' के द्वारा उन्होंने बाह्य उपचारों की वर्जना करके विशुद्ध अन्तर्मुखी साधना की ओर निर्देश किया है। अमरता की ओर संकेत करके 'नाम-महिमा, को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

जपा मेरे अजपा मेरे, अनहद हू मरि जाय ।

सुरति समानी 'शब्द' मे, ताहि काल नहि खाय ॥

उनका यह दृढ़ विश्वास है कि जिस व्यक्ति की 'सुरति' शब्द में समा गई है उसे काल नहीं खा सकता। वह अमर है। इससे उनका तात्पर्य है 'नाम' के जापक की अहर्निश सहाज समाधि लगी रहती है। उसका मन संदा लय अवस्था को प्राप्त रहता है। और इस कारण मन अपनी प्रकृति (संकल्प-विकल्प) को छोड़ देता है। जो आवागमन, जन्म, मरण का कारण बनती है। और आवागमन रहित जीव की स्थिति ही तो जीवन्मुक्ति है, मोक्षावस्था है, कैवल्य फल है।

इस नाम या शब्द की साधना अत्यन्त सरल होते हुये भी अतिशय कठिन है। भेरा उपर्युक्त वाक्य प्रथम दृष्टि में विरोधाभास सा प्रतीत होगा। किन्तु है यह सत्य और संगत। अर्थात्, सरल वस्तु का ग्रहण अत्यन्त कठिन है। क्योंकि उसके ग्रहण के लिये अपने को भी सरल बनाना पड़ेगा, विनम्र होना पड़ेगा। बिना अहंकार का त्याग किए सरल को किस प्रकार पाया जा सकता है। महात्मा जगजीवन साहब ने अपने इस पद में इस तथ्य की पूर्ण प्रतिष्ठा की है —

रही नाम ते लौ लाय ।

नाम ते जे नहि राते, गए ते पछिताय । १ ।

नाहि दीलत धाम भूलै, प्रभुहि दीन्ह बनाय ।

जबहि साई खचि लेहै, कहा कहै दुह जाय । २ ।

गर्व तजहु गुमान मै ते, चलहु कै दिन नाय ।

चहुँदु कछु दिन भला आपन, देत अहो लखाय । ३ ।

अहै परगत नहि गुप्त बूझि जैसी आय ।

जगजीवन विस्वास करि गुरू चरन रहु लिपटाय । ४ ।

‘गर्वं तजहु गुमान मैं तै, चलहु कै दिन ताय’ द्वारा मानो इस महान् सन्त ने नाम जप के लिये एक बड़ा शर्त लगा दी हो । जो व्यक्ति अहंकार और तज्जनित माया व्यापार के मोह को नहीं छोड़ता उसके लिए यह ‘नाम’ जप का मार्ग सदा के लिए बन्द है । क्योंकि माया का अनुसरण करने वाला कितने दिन तक अहंकार, विग्रह के सुखों को भोग सकता है, अर्थात् माया-व्यापार तो परिवर्तनशील होने के कारण नश्वर है । तो भला माया का मार्ग कब शाश्वत हो सकता है ।

कुछ दिन पूर्व एक गण्यमान दार्शनिक से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था । आध्यात्मिक सतञ्ज के सिलसिले में दार्शनिक सिद्धान्तों का विचार-विनिमय करते-करते बात साधना और आस्था पर पहुँची । इस स्थल पर मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि वे महाशय कोरे दार्शनिक ही नहीं, आध्यात्मिक साधक भी थे । ‘मुरति’ शब्द की अजमा की साधना पर अपना मत प्रकट करते हुए वे कहने लगे कि—“साधना की इस प्रक्रिया द्वारा साइकिक (Psychic) उन्नति तो अत्यन्त शीघ्र होती है । किन्तु अहंकार (Ego) से निवृत्ति शीघ्र नहीं मिल पाती । उस समय तो मैंने उनकी इस मान्यता के विरोध में कुछ नहीं कहा । यद्यपि मैं यह भली प्रकार जानता था कि ‘अहंकार’ को निवृत्ति जितना शीघ्र सन्त-मत द्वारा स्वीकृति इस साधना मार्ग से हो सकती है उतना शीघ्र अन्य किसी साधना प्रणाली द्वारा नहीं । किन्तु मैं जानता था कि अपनी मान्यता के लिए प्रमाणों की आवश्यकता पड़ेगी और प्रमाण रूप में किसी भी सन्त की एक भी पंक्ति मुझे प्रस्तुत न थी । कहने के लिए यह कह सकता था कि प्रमाण के लिये

इस परंपरा के सन्तों की विनम्रता और अहंकार शून्य वृत्ति की ओर देखिये । किन्तु जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, इसके लिए ‘सन्तों की बानी’ से उद्धरण प्रमाण स्वरूप मांगे जा सकते थे । इसीलिये मैं मौन ही रहा । यद्यपि मैंने अन्त साधना प्रणालियों के सन्तों के भी दर्शन किये हैं, किन्तु मुझे उनमें अहंकार का पूर्ण निरमन नहीं मिला । सन्त परंपरा के साधकों को तो व्याख्यान देने की भी अनुमति प्राप्त नहीं होती है । क्योंकि इस परंपरा के सन्तों का मत है कि अहंकार की गति बड़ी झीनी है और वह इस रूप में भी मन में बनी रह सकती है कि “मैं बड़ा भारी वक्ता हूँ” और केवल यही मान्यता “राग-द्वेष” में बंधने में पूर्ण समर्थ है तो भला अहंकार को जन्म देने वाली अन्य प्रवृत्तियों की तो बात ही क्या ।

महात्मा जगजीवन साहब के पद द्वारा यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि “नाम या शब्द” की साधना बिना पूर्ण दीन हुए नहीं हो सकती । साधक को पूर्ण विनम्र, अपने को क्षार समझना होगा । तभी उस सार तत्व को प्राप्त कर सकता है । इन महात्मा के अतिरिक्त सन्त मत में अग्रगण्य महात्मा कबीरदास ने भी यही कड़ी शर्त लगाई है, वे कहते हैं—

शीश उतारे भुँइ धरे, तापर राखे पाँव ।

दास कबीरा यों कहे, ऐसा होय तो आव ।

अर्थात् सन्त मत की साधना इतनी सरल नहीं है । उसकी कुछ शर्तें हैं । बिना उन शर्तों को पूरा किये कोई इसमें प्रवेश नहीं पा सकता । और उन शर्तों की मेरुदंड है— “अहंकार” शून्यता । कबीरदास जी भी यही कहते हैं कि “इस साधना पथ में प्रविष्ट होने के पूर्व पहले अपने सिर को अपने ही हाथ से काटकर अपने पैरों तले रखना होगा । और फिर उस पर चलकर सद्गुरु के पास जाना होगा । यहाँ पर “शीश उतारने” से उनका तात्पर्य है, अहंकार शून्य होना । अहं-

कार को जन्म देने वाली बुद्धि है, और वह मस्तिष्क वासिनी है। अतः मस्तिष्क अथवा शिर सभी प्रकार के अहंकारों का मूल है, उद्गम स्थान है। अतएव उन्होंने शिर के प्रतीक द्वारा अहंकार को अभिव्यक्त किया है। बिना अहंकार की निवृत्ति के कोई भी इस पथ पर नहीं चल सकता। इस दोहे का यही भाव है।

कबीरदास के अतिरिक्त महात्मा रैदास ने भी नाम अथवा शब्द साधना को अहंकार जन्य सभी माया विग्रहों के शमन करने में सबसे अधिक प्रभावशाली माना है। उनका तो यह दृढ़ विश्वास है कि नाम साधक के पास अहंकार की गति ही नहीं हो सकती। निम्न-लिखित पद में उन्होंने सर्वतोमुखी “मैं” की हार स्वीकार की है। पद कुछ बड़ा है फिर भी मैं उसको उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। पद इस प्रकार है—

अब मैं हार्यो रे भाई ॥

थकित भयो सब हाल चाल ते, लोक न बेद बड़ाई ।  
थकित भयो गायन अरु नाचन, थाकी सेवा पूजा ।  
काम क्रोध ते देह थकित भई, कहौ कहा लौं दूजा ।  
राम जनहुँ ना भगत कहाऊँ, चरन पखारूँ न देवा ।  
जोइ जोइ करौ उलटि मोहि बाँधै, ताते निकट न मेवा ।  
पहले ज्ञान का दिया चाँदना, पाछे दिया बुझाई ।  
सुन्न सहज में दोऊ त्यागे, राम न कहुं दुख दाई ।  
दूर बसे पट कम सकल अस, दूरउ कीन्हें सेऊ ।  
ज्ञान ध्यान दूर दोउ कीन्हें, दूरिउ छोड़े तेऊ ।  
पांचौ थकित भये हैं जहं तहं, जहाँ तहाँ थिति पाई ।  
जा कारन मैं दौरौ फिरतो, सो अब घर में आई ।  
पाँचों मेरी सखी सहेली, तिन निधि दई दिखाई ।  
अब मन फूलि भयो जग महियां, आप उलटि समाई ।

चलत चलत मेरो निज मन थावयो, अब मोसे चलो न जाई ।

साई सहज मिला सोई सनमुख, कह रैदास बड़ाई ।

रैदास जी की बानी पृष्ठ २, ३

उपर्युक्त पद में मन की गति अथवा अहं की व्याप्ति के प्रायः संपूर्ण प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है । सम्पूर्ण हाल चाल अर्थात् मैं तू में बिखरे हुए संसार से मन उनका थकित हो गया है । लौकिक तथा पारलौकिक यश की कामना नहीं रही, क्योंकि ये दोनों द्वन्द्व हैं और जीव को माया बन्धन में बांधते हैं । अग्रिम पंक्तियों में कवि माया विग्रह का विस्तार करता हुआ कहता है कि मैं अब नाम अथवा शब्द की साधना की सिद्धि के पश्चात् गायन और नृत्य अर्थात् विलास और ऐश्वर्य के जीवन से थक गया हूँ । और अब मैं वहाँ तक कहूँ मेरा मन सेवा और पूजा में भी नहीं लगता और मानव के सबसे बड़े शत्रुओं काम और क्रोध से भी अब मुक्ति मिल गई है । मैं अब राम का नाम भी लेता तथा भक्त कहलाने की भी अभिलाषा नहीं रही । न तो मैं अब चरण प्रक्षालन करता हूँ: अर्थात् अब शारीरिक शुद्धि का भी ध्यान नहीं रहा: और न किसी देवता की पूजा ही करता हूँ । सन्त रैदास का मत है कि व्यक्ति जो भी कर्म करता है उसका अभिमान उसे माया-बन्धन में बांध लेता है । अतएव भवत उसके निकट जाने को तैयार नहीं । उपर्युक्त कथन द्वारा महात्मा रैदास ने इस सत्य की प्रतिष्ठा की है कि अहंकार ( Ego ) की जाति इतनी सूक्ष्म है कि किसी भी कार्य के माध्यम द्वारा वह माया-बन्धन में किस समय बांध लेगी, कहा नहीं जा सकता । किन्तु नाम की प्राप्ति के पश्चात् माया का सारा प्रपंच छिन्न-भिन्न हो गया है । मन अपने धर्म संकल्प विवर्त्त को छोड़ कर स्थिर हो गया है । जिस परमानन्द की प्राप्ति के हेतु मन इधर उधर भागा-भागा फिरता था वह हृदय के अन्तर्गत ही प्राप्त हो गया है, तो फिर वह अब कहां जाय मन से अहंकार के पूर्ण निरसन का सन्त मत के इस अजपा के अतिरिक्त अन्य कोई सरल मार्ग हो

सकता है, मेरी समझ तो नहीं आता । “राम” का यह नाम आध्यात्मिक साधना की चरम प्राप्ति है । इसके द्वारा अहंकार रूपी वासुकि नाग का फण सहज ही कुचला जा सकता है प्रायः सभी सन्तों की बानियों में “नाम” महात्म्य के इस प्रकार के उद्गार प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं ।

अस्तु पूर्ण अहंकार शून्य होकर ही इस नाम अथवा शब्द की प्राप्ति हो सकती है और इस नाम अथवा शब्द की प्राप्ति ही मुक्ति की प्राप्ति है । बिना इसके छुटकारा नहीं । सन्तों ने बड़े दृढ़ विश्वास के साथ इस तथ्य की घोषणा की है कि मोक्ष लाभ के लिए शब्द साधना आवश्यक है । इस सम्बन्ध में महात्मा जग जीवन दास की बानी के शब्द ३१ की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

बिन वहि नाम तरै कोउ नाहीं ।  
 देखहु समुझि वूझि मन मांहीं ।  
 तीरथ ब्रत बहु भाँति कराय ।  
 जो पै अन्तर देखि न पाय । २ ।  
 जल तन धोय मैलगा धोय ।  
 मनु यहु नाम ते निर्मल होय । ३ ।  
 भूले करि षट कर्म अचार ।  
 याही ते भूला संसार । ४ ।  
 सहज डोरि जो राखै लाय ।  
 अंतर भजि तब भक्त कहाय । ५ ।

जगजीवन साहब की बानी शब्द ३१

अर्थात् बिना उस नाम की साधना के कोई मुक्त नहीं हो सकता । इसको अपने मन में सोच समझ कर देख लो । तीर्थयात्रा, अनेक प्रकार के ब्रत तथा जल द्वारा शरीर का प्रक्षालन केवल बाह्य शुद्धि ही कर सकता है । अन्तःकरण अर्थात् वासनाओं की आसक्ति की शुद्धि

तो नाम साधना द्वारा मन की अतर्मुखी वृत्ति द्वारा ही सम्भव हो सकती है, बिना अम्यंतर की शुद्धि के बाह्य शुद्धि का कोई महत्व नहीं। बाह्य कर्मकाण्ड तो रूढ़ होकर आसक्ति का कारण बनता है, और यह आसक्ति ही तो माया है। इन पंक्तियों में भी नाम के अतर्मुखी जप पर ही संकेत द्वारा प्रकर्ष दिया गया है।

मुझे इस नाम अथवा शब्द की मान्यता की महत्ता के विषय में केवल एक ही बात और कहनी है। सन्तों द्वारा स्वीकृत यह नाम अथवा शब्द की साधना प्रायः सभी साधना पद्धतियों से अत्यन्त सरल तो है ही, इसके अतिरिक्त इसी के द्वारा चरम आध्यात्मिक उपलब्धि भी होती है। सन्त दरिया ने बड़ी दृढ़ता और आत्म विश्वास के साथ इस बात की उद्धोषणा की है। निश्चय ही उनकी यह उद्धोषणा अनुभव की ठोस भूमि पर अधिष्ठित है। सन्त मत के सन्तों ने जो भी कुछ कहा है वह सब उनकी स्वानुभूति का ही परिणाम है। क्योंकि वे बहुधा पढ़े लिखे न थे। इसलिये उनकी अनुभूतियों में अतिरंजना नहीं है। नमक मिर्च लगाकर अपने अनुभवों को अतिशयोक्ति पूर्ण बनाने की कला उन्हें नहीं आती थी। कबीर ने तो शास्त्र वेत्ताओं को उनके पुस्तकीय ज्ञान के लिये इसी हेतु बड़ी फटकार बताई है। वे कहते हैं कि “तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखों की देखी।” अर्थात् प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। महान सन्त दरिया ने इस नाम को सम्पूर्ण आध्यात्मिक उपलब्धियों में सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए अपनी बानी “ब्रह्म परचे का अंग” में कहा है कि—

मन मेरू से बावड़ै, त्रिकुटी लग ओकार ।

जन दरिया इनके परे, ररंकार निरधार । १० ।

जन दरिया आकाश लग, ओंकार का राज ।

महामुन्न जिसके परे, ररंकार महराज । १५ ।

ओउम् अथवा ॐ कार की साधना अथवा ॐ की साधना द्वारा

आध्यात्मिक उरलब्धि प्रायः अध्यात्म जगत में सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में मानी गई है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो इस 'ॐ' के जप का बहुत ही व्यापक प्रचार किया है। गीता में भी 'ॐ' के जप एवं साधना की महनीयता उन्मुक्त कंठ से स्वीकार की गई है। स्वामी शंकराचार्य ने भी 'ॐ' के जप के प्रचार में जो तत्परता दिखाई है, वह भी सर्व विदित ही है। किन्तु सन्तों ने इस 'ॐ' से भी परे नाम का अधिष्ठान खोज निकाला है। दरिया साहब के उपर्युक्त दोनो दोहे सन्तों की इस मान्यता के प्रतिनिधि के रूप में रखे जा सकते हैं। अपने प्रथम दोहे में उन्होंने 'ओंकार का स्थान त्रिकुटी में स्वीकार किया है। 'त्रिकुटी' भौहों से सजान दूरी पर थोड़ा हटकर भाल पर वह स्थान है जहाँ इड़ा पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ आकर मिलती हैं। सन्तों ने इस त्रिकुटी की भी महिमा का बड़ा गान किया है। यही पर उन्होंने आज्ञा चक्र की अवस्थिति मानी है। यही से प्रकाश झरता है, यहीं तीसरा नेत्र है। इसी के द्वारा साधक ज्ञान दृष्टि सम्पन्न माना जाता है। ध्यानावस्था में साधक अपने इसी नेत्र द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड में बिखरी हुई गुप्त वस्तुओं को देख सकता है। यही पर 'ॐ' का भी है। अर्थात् इसकी सिद्धि 'ओंकार' की सिद्धि है। किन्तु सन्त दरिया ने इसके भी ऊपर 'रंकार' अथवा नाम को माना है। वे कहते हैं वह 'निरधार' है अर्थात् उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। वेदान्त ने ब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हुए स्वीकार किया है कि सर्वाधार निराधार होता है, और ब्रह्म ही सर्वाधार है इसलिए वह निराधार है। सन्त दरिया ने भी इसी प्रकार 'रंकार' को निरधार कहकर उसके सर्वाधार होने की स्वीकृति दी है। अस्तु, वेदान्तियों का जो ब्रह्म है, वही सन्तों का नाम अथवा शब्द अथवा राम अथवा 'रंकार' है। हमारे दोहे में उन्होंने उसकी अवस्थिति महदाकाश, महसुन्न अर्थात् महासून्य के भी परे मानी है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि वह महतो

महीयान है ।

मेरी उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि सन्तों द्वारा स्वीकृत नाम की मान्यता भक्तों द्वारा स्वीकृत नाम की मान्यता से सर्वथा भिन्न है । यद्यपि कहीं-कहीं महात्मा सूरदास ने भी अपने एकाग्र पद में सन्तों के समान ही 'शब्द' की चर्चा की है । संभव है गोस्वामी तुलसीदासजी तथा महात्मा सूरदास जी ने नाम अथवा शब्द की महत्ता सन्तों के समान ही स्वीकार की हो । किन्तु भक्त समाज ने निश्चित रूप में इस रूप में स्वीकार नहीं किया । यह मेरा दृढ़ निश्चय है । सन्त मत की इस 'नाम साधना' के द्वारा 'अह' का शमन एवं पूर्ण निरसन जिस प्रवेग के साथ होता है वैसा अन्य किसी साधना द्वारा नहीं । इसलिए सन्तों ने इसे 'विहंगम' मार्ग कहा है । इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध होता है कि नाम की यह साधना 'ॐ' कार की साधना से भी बढ़कर है, जो अति दीर्घ काल से आध्यात्मिक जगत में स्वीकृत चली आ रही है । इस विवेचन से एक अन्य तथ्य की भी पुष्टि होती है कि योग अथवा साधना के क्षेत्र में सन्तों की यह "शब्द साधना" एक नूतन आविष्कार है ।

## सन्त मत की सुरति शब्द साधना और पश्चिम द्वार

“सन्तों की सुरति शब्द साधना” को लेकर हिन्दी के विद्वान अलोचकों तथा अन्वेषकों में विरोधी मतों की अपूर्व प्रदर्शनी देखने को मिलती है। सन्तों के ऊपर इधर पन्द्रह बीस वर्षों से अनवरत अनुशीलन कार्य हो रहा है। कार्य, परिणाम में जितना अधिक हुआ है, उससे कहीं अधिक उनकी साधना का मत सन्दिग्ध और भ्रामक हो गया है। इस भ्रम का एक मात्र कारण आलोचकों और अनुशीलकों की एतद् विषय बौद्धिक उपपत्तियाँ रही हैं। अनुमान के सहारे सन्तों की साधना के संबंध में किसी प्रकार का निर्णय देना केवल अनधिकार चेष्टा ही नहीं, अश्रम्य दुस्साहस भी है। आत्म तत्व का साक्षात्कार यदि बौद्धिक धरातल पर संभव होता, तो सभी पाश्चात्य दार्शनिक, ब्रह्म वेत्ताओं की श्रेणी में परिगणित होते। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक श्री बर्टेन्ड रसेल ने अस्सी वर्ष की आयु में तीसरा विवाह किया है और मनीषी दार्शनिक तथा साहित्यकार श्री एल्डस हक्सले (Elds Huxley) ने अभी तक के कौमार्य जीवन का संयम तोड़ कर २१ वर्ष की आयु में अचानक एक इटैलियन बेलावादिका के साथ विवाह कर लिया है। यौन आर्कषण के मूल में अहं (Ego) की संपूर्ण व्याप्ति है। और आध्यात्मिक साधनाओं की पहली शर्त है कि आप निरभिमान तथा पूर्णतया विनम्र हों। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः स्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं, स्वाम् केनोपनिषत् १..२ २३ : अर्थात् यह आत्मा न तो वेदों के प्रवचन से न मेघा से और न बहुत

सुनने से प्राप्त होता है । यह तो स्वयं जिसको वरण करता है, उसी को यह प्राप्त होता है । अतः निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा का लाभ अथवा अध्यात्म साधना न तो कभी बौद्धिक घरातल पर संभव हुई है और न भविष्य में हो सकेगी । और यही कारण है कि पाश्चात्य विचारकों की बौद्धिक उड़ाने बहुत ऊँची होने पर भी अहं निरसन की दिशा में कुछ भी नहीं कर पाई है । इसीलिये वहाँ के बड़े से बड़े दार्शनिक का जीवन अहं की चौहद्दी से पूर्णतया घिरा रहा है । अतः सन्तों की साधना के विषय में कोई भी निर्णय देने के प्रथम यह आवश्यक है कि साधना द्वारा अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर लिया जाय । यदि ऐसा नहीं किया जाता तो उन निरूपणों का अन्धों के हस्ति-निरूपण से अधिक महत्व न होगा ।

सन्तों की "सुरति" तथा "निरति" के विषय में अभी तक जितने मत मँने देखे हैं, उनकी तालिका निम्नलिखित है:—

सुरति:—

१. .स्वर, आशा और भूया ही क्रमशः सन्तों की सुरति, विरह और निरति हैं ।

२. .सुरति—स्मृति ।

३. .सुरति—स्वरति ।

४. .सुरति—सुष्ठु रति ।

५. .सुरति—श्रुति ।

६. .सुरति—प्रेम ।

७. .अतर्मुखी—वृत्ति ।

८. .सुरति—तान ।

९. .सुरति—योगी की असाधारण दृष्टि क्षमता को कहते हैं । जिसके द्वारा वह अपार्थिव जगत के आश्चर्य मय दृश्यों और शब्दों की साक्षात् अनुभूति प्राप्त करता है । डा० घर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन पृष्ठ १०६ :

निरति:--

१.. नृत्य ।

२.. निष्ठुरति ।

३.. वैराग्य ।

४.. वहिर्मुखी वृत्ति ।

५.. लय ।

६.. निरति.. सुरति से भिन्न निर्विकल्प ध्यान की अवस्था है जिसमें दृश्यावली नई नहीं प्रकट होती । डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी सन्त-कवि दरिया : एक अनुशीलन पृष्ठ १०६ । ‘सुरति’ तथा ‘निरति’ के विषय में उपर्युक्त तालिका के उद्धरणों द्वारा मुझे किसी भी मत का खंडन मन्दन अभीष्ट नहीं है । और न उसके लिए इस लघु निबन्ध में अवकाश ही है । मुझे तो उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा केवल यही दिखलाना है कि अपने निष्कर्षों में किन्ही भी दो विद्वानों के मतों में साम्य नहीं है । और इसी से यह सिद्ध होता है कि उनकी उपपत्तियां बुद्धि-प्रसूत हैं । किन्तु सन्तों की मान्यताओं में कही भी भेद दृष्टि-गोचर नहीं होता है । गुरु की महिमा को ही ले लीजिए, ‘कधीर’ से लेकर आज तक सभी सन्त एक स्वर से स्वीकार करते आ रहे हैं । एतद्विषयक उनके कुछ उद्धरण मैं नीचे देता हूं :--

१.. गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पांय ।

बलिहारी वा गुरु को, जेहि गोविन्द दियो मिलाय ।

२.. बिन सद्गुरु कोउ भेद न पावा,

घरतो से आकास लो धावा । : वजहन :

३.. दादू काढ़े काल मुख, अंधे लोचन दोऊ,

दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेय । : दादू :

४.. सतगुरु आदि अनादि हैं, सतगुरु मध और मूल,

सतगुरु को सिजदा करूं, एक पलक नहिं भूल । : गरीब दास :

उपर्युक्त उद्धरणों में जहाँ सभी सन्तों ने गुरु की महत्ता पर अपनी श्रद्धा तथा प्रगति अपित की है, वहीं व्यंजना द्वारा यह भी बतला दिया है कि बिना गुरु की कृपा से साधना में सिद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती । अर्थात् सन्त मत साधना की पीठिका पर अधिष्ठित है । बुद्धि के वृत्त में इसकी अनन्तता को नहीं घेरा जा सकता ।

गुरु की महिमा की स्वीकृति के अतिरिक्त वे इड़ा, पिंगला, सुषमा, शब्द, वक्ताल, अनहद, रंरकार, कमल तथा चक्र आदि शब्दों का प्रयोग भी एक ही अर्थ में करते आए हैं । किन्तु, उपर्युक्त परिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त सभी सन्तों में “पछिम द्वारा” या ‘पश्चिम द्वार’ शब्द का प्रयोग भी समान रूप से प्राप्त होता है । इस शब्द की ओर मेरा ध्यान आकस्मिक रूप से कल्याण के साधनांक में डा० सम्पूर्णानन्द के निबन्ध “सन्त मत में साधना” को पढ़ते समय आकृष्ट हुआ । श्री सम्पूर्णानन्द द्वारा उद्धृत पदों के अतिरिक्त मुझे कबीर में भी यह शब्द पूर्व अर्थ में ही प्रयुक्त मिला । आलोचकों तथा अनुशीलकों ने या तो इस शब्द को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, और जिन लोगों ने इसका अर्थ करने की चेष्टा भी की है तो उनकी व्याख्या अन्य परिभाषिक शब्दों की व्याख्याओं के समान ही संदिग्ध है । डा० सम्पूर्णानन्द द्वारा उद्धृत पद एक श्री गरीब दास जी का है और दूसरा उनके दादा गुरु बाबा रामलाल जी का । श्री गरीब दास जी का पद अधिक बड़ा है इसलिए मैं उसकी केवल वे ही पक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ जो मेरे प्रमाण के सन्दर्भ में हैं, और श्री बाबा रामलाल जी का सम्पूर्ण पद ।

१.. “दक्खिन देश में दीपक जोहूँ, उत्तर धरूँ धियाना ।

पछिम देश में देवल हमरा, पूरब पंथ पयाना ॥

पिण्ड ब्रह्मान्ड दोउ से न्यारा, अगम ग्यान गौहराऊँ,

दास गरीब अगम गति आवै, सिन्धै सिन्ध मिलाऊँ,

—महात्मा गरीब दास :

२. .मूल मंत्र करि बंध बिचारी । षट चक्रहि नव सोधहि नारी ।  
 सोधि के मेरु दण्ड ठहराना । सहज मिलावै प्रान अपाना ।  
 बंक नाल गहै मन मूला । बिहंस अष्ट कमल दल फूला ।  
 पच्छिम दीसा लागि किवारी । सत कुन्जी सन लेहु उधारी ।

: बाबा रामलाल दास :

३. .उपर्युक्त दोनों पदों के अतिरिक्त कबीर ने भी “पश्चिम द्वार” की महत्ता की ओर रहस्यात्मक संकेत दिया है । उनका पद इस प्रकार है ।

शिव की पुरी बसै बुधि सारू ।  
 तह तुम मिलि कै करहु बिचारू ।  
 इति ऊत की सोझी परै ।  
 कउन करम मेरा करि करि मरै ।  
 निज पद ऊपरि लागो धिआनु ।  
 राजा राम नमु मोरा ब्रह्म गिआनु ।  
 मूल दुआरै बधिया बन्धु ।  
 रवि ऊपर गहि रखिया चदु ।  
 पछिम दुहारे की सिल ओड़ ।  
 तिहि सिल ऊपर खिड़की अउर ।  
 खिड़की ऊपर दसवां दुआरू ।  
 कहि कबीर ताका अन्त न पारू । : कबीर :

उपर्युक्त तीनों पदों के उद्धरण साधना-परक हैं । निश्चय ही इनमें साहित्यिक सौन्दर्य का अन्वेषण करने से घोर निराशा होगी । और अपनी इस अध्यात्म परता के कारण ये अथवा इसी प्रकार की सन्तों की रचनाएं, केवल साहित्यिक की बुद्धि वृत्त के अन्तर्गत नहीं

समा सकतीं। और इसीलिए केवल साहित्य के विद्यार्थी को अपनी सीमाओं का ध्यान रख कर ऐसी रचनाओं के विषय में अपना मत निर्धारित करना चाहिए। नहीं तो वह सत्य के उद्घाटन में तो सर्वथा असमर्थ रहेगा ही, उल्टे एक ऐसे भ्रामक शब्द जाल की स्रष्टि कर डालेगा, जो न केवल निरर्थक होगी, वरन् सत्य के साक्षात्कार करने वाले के मार्ग में एक बाधा भी उपस्थित करेगी।

सन्तों के इस “पच्छिम द्वार” से इनकी “सुरति शब्द के अजपा” की साधना से घनिष्ठ सम्बंध प्रतीत होता है। उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में इसकी महत्ता स्वीकार की गई है। कबीर तथा बाबा रामलाल जी ने तो इसके ऊपर विशेष प्रकर्ष दिया है। बाबा रामलाल जी ने “पच्छिम दीसा लागि किवारी। सत कुंजी सन लेहु उधारी” कह कर मानो सन्तों की साधना को नितान्त स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। “पच्छिम द्वार” के किवाड़ की स्थिति का शरीर में पता लगाने के पहले, हमें शरीर की दिशा को समझना होगा। शरीर में दिशाओं की अवस्थिति सन्तों ने किस प्रकार मानी है, इसका ठीक ठीक ज्ञान अटकल के आधार पर नहीं हो सकता। जिस प्रकार उनका सम्पूर्ण साधना-मार्ग गुप्त रखा गया है। उसी प्रकार उनकी दिशाओं की कल्पना भी अत्यन्त रहस्यात्मक प्रतीत होती है। सन्तों ने अपनी साधना के विषय में प्रायः संकेतों में बात की है। उनके कुछ गुप्त प्रतीक हैं जिन्हें वे सार्वजनिक रूप में नहीं देना चाहते थे। उन प्रतीकों अथवा संकेतों की व्याप्ति केवल उनके अधिकारी शिष्यों तक ही परिमित है, वही उसे समझ सकते थे। उन्हीं को समझना सन्तों को अभीष्ट भी था। सार्वजनिक बना कर वे अपने योग-मत की कदमना नहीं करना चाहते थे। वे इसे भली-भाँति जानते थे कि योग साधना के वास्तविक जिज्ञासु कोई विरले ही होते हैं। इसलिए वे सोने की कुदाल को घूरे पर नहीं चलाना चाहते थे। अस्तु प्रतीकों की इस रहस्यमयी भाषा को समझने के लिए किसी सिद्ध सन्त की शरण लेनी

पड़ेगी। उससे यह भेद जान लेने पर ही इन रहस्य मय प्रतीकों के विषय में कुछ अधिकार-पूर्ण लिखा जा सकता है।

इस “पच्छिम द्वार” के द्वारा एक और महत्व पूर्ण बात पर प्रकाश पड़ता है। कबीर तथा अन्य सन्त कवियों की साधना के विषय में प्रायः विद्वानों ने यह कहा है कि वे हठयोग करते थे। सन्तों के आलोचकों को यह भ्रम उनके द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों—इड़ा, पिगंला, कुंडलिनी, चक्रों तथा कमलों...के कारण हुआ है। किन्तु “पच्छिम द्वार” का ‘सत कुंजी से उद्धरण यह सिद्ध करता है कि “पैरण्ड संहिता” तथा “हठ योग प्रदीपिका” में वर्णित “हठयोग की प्रणाली से ‘सुरति शब्द’ के योग की साधना सर्वथा भिन्न है। आसन तथा प्राणायाम के द्वारा कुंडलिनी उद्बोधन तथा पट...चक्र भेदन का जो हठ योग का मार्ग है उससे इस विहंगम मार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं।

अन्त में सन्तों के आलोचकों तथा अनुशीलकों से मेरा बिनम्र निवेदन है कि वे उपर्युक्त दृष्टिकोण के द्वारा भी सन्त-साहित्य को देखने की चेष्टा करें। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि नादानुसंधान का यह मार्ग अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी कभी सर्वजनीन बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। और इसीलिए अन्य विज्ञानों के समान इसकी स्पष्ट तथा व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं मिल सकती। अतएव, हमें बाह्य साक्षियों को छोड़कर सन्तों के मत के लिए सन्तों की ही गवाही लेनी पड़ेगी। उन्हीं से पूछ तांछ करनी पड़ेगी। ऐसा न करने से हम चिर काल तक उनके मत का अनर्थ तथा उनके साथ अक्षम्य अन्याय करते चले जायेंगे।

# सन्त-मत में सुरति, निरति और सहज समाधि की मान्यता

सन्त-मत के शोधकों ने सन्तों द्वारा प्रयुक्त अन्य पारिभाषिक शब्दों ( इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी आदि ) की विस्तृत व्याख्याएँ की हैं। किन्तु वे उनके सुरति, निरति और सहज-समाधि पर सम्यक प्रकाश नहीं डाल सके। इसका प्रमुख कारण कदाचित् यह रहा है कि उनकी ये उपपत्तियाँ उनकी ( सन्तों का ) साधना-पद्धति की जानकारी न होने के कारण बौद्धिक ही रही हैं, और इसी कारण वे इन शब्दों के लिए कोई तथ्य पूर्ण बात नहीं कह सके। हमारा इन शब्दों के विषय में यह मत है कि बिना इनके पूर्ण ज्ञान के कोई भी सन्त-मत के साथ न्याय नहीं कर सकता। सन्तों के ये शब्द उनकी साधना के मेरु दण्ड हैं। हम यहाँ पर इन शब्दों की व्याख्या क्रमशः उपस्थित कर रहे हैं।

## सुरति

सन्त-काव्य में 'सुरति' शब्द का प्रयोग जितनी बहुलता और विभिन्नता से हुआ है। उतना कदाचित् ही किसी अन्य शब्द का हुआ होगा। किन्तु, हमें तो इस विभिन्नता में भी एक मौलिक एकता प्राप्त होती है। सन्तों के आलोचकों ने इस शब्द की अनेक विधि व्याख्याएँ और व्युत्पत्तियाँ उपस्थित करके इस प्रसंग को अत्यधिक जटिल बना दिया है। इसका प्रमुख कारण, जैसा कि हमने ऊपर कह है, उनकी बौद्धिक-उपपत्ति रही है। 'सुरति' शब्द को जिन अर्थों में ग्रहण किया

जाता है, उनकी स्थूल-तालिका इस प्रकार है ।

(१) सुरति—स्मृति

(२) सुरति—प्रेम-क्रीड़ा

(३) सुरति—श्रुति

(४) सुरति—चित्त प्रवाह ( सुरति का उद्भव स्रोत से होने के कारण )

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'सुरति' शब्द का प्रयोग थोड़ा बहुत हेर-फेर करके नाकों और सन्तों में इन्हीं अर्थों में प्राप्त होता है । किन्तु, सन्तों के आलोचकों ने इस शब्द की व्याख्या के लिए, जितना प्रकर्ष भाषा वैज्ञानिक और वैयाकरण व्याख्या पर दिया है, उतना इसके भाव पर नहीं दिया । स्मृति और चित्त-प्रवाह के रूप में मन की एक ही स्थिति का स्वरूप निश्चित होता है । सांसारिकता का मोह त्याग कर मन का परमात्मा से मिलने का रूपक सन्तों ने अनेक स्थानों में रखा है । मन का सांसारिकता से मोह छोड़ कर परमात्मा में अनुरक्ति दिखलाना ही, प्रेम क्रीड़ा है और वही सुरति योग है । सुरति का श्रुति के रूप में प्रयोग सुरति-शब्द-योग के प्रसंग में रख कर देखने से स्पष्ट हो जाता है । अर्थात् सुरति ( स्मृति ) का सदैव शब्द में लगा रहना, 'सुरति-शब्द-योग' है । यहाँ शब्द के साथ 'सुरति' का प्रयोग सुनने के ही अर्थ में है, क्योंकि शब्द सुना ही जाता है । मेरी उपर्युक्त व्याख्या केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचती है कि सन्तों ने इस शब्द का प्रयोग केवल एक ही मन्तव्य के लिए—अपने मन को सांसारिकता से विमुक्त करके, आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने के लिए किया है । हमने अन्यत्र कहा है कि सन्तों की उलट-धार सुरति-शब्द योग की पर्याय है । हमारा मन-प्रवाह अपने स्वाभाविक रूप में सांसारिकता की ओर विशेष रूप से अनुरक्ति दिखलाता है । इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि हमारी विषय-ग्राहिणी सभी

इन्द्रियां वहिर्मुखी हैं । अस्तु इस वहिर्मुखी चित्त-प्रवाह को शब्द के साथ नियोजित करके अन्तर्मुखी बनाना सुरति-शब्द-योग है । शब्द के प्रति सदैव सुरति (खयाल स्मृति) बने रहने के कारण ही हम इसे स्मृति-शब्द-योग भी कह सकते हैं ।

सुरति शब्द-योग अथवा नादानुसंधान के योग की परम्परा सिद्धों नामों से भी अधिक प्राचीन हैं । खोजने से तो इसके स्वरूप का यत्किंचित शोध वेदों में भी प्राप्त हो सकता है । किन्तु उपनिषद काल से तो इसका इतिहास किसी न किसी रूप में क्रमबद्ध प्राप्त होता ही है । नाद-विन्दु-उपनिषद के अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद में भी इस योग की प्रणाली का उल्लेख मिलता है । वह श्लोक इस प्रकार है:—

“तस्येषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनमिव नदधुरिवाग्नेरिव ज्वलतउपश्रणोति ।” (छान्दोग्य ३।१३।८) अर्थात् (योग साधना की अवस्था में) कर्मेन्द्रिय के विरुद्ध होने पर योगी की वादल की गर्जन की भाँति, बृषभ के नाद की भाँति, जलती हुई अग्नि की सरसराहट जो कुछ सुनाई पड़ता है, यह उस ब्रह्म की अनहद ध्वनि है ।

सिद्धों ने इस शब्द का प्रयोग यद्यपि प्रेमक्रीड़ा के रूप में किया है, किन्तु फिर भी जैसा कि हमने ऊपर कहा है, इसकी व्याख्या आत्मा-परमात्मा के मिलन के रूप में ही लेनी चाहिये । सिद्धों ने अपने योग की परम्परा को गुप्त रखने के लिए ही इस प्रकार के मधुर सांसारिक आच्छादन से उसे आच्छादित किया था । सिद्ध सरहपा इसे कमल-कुलिश-योग की संज्ञा देते हुए इस प्रकार स्वीकार करते हैं ।

कमल कुलिश वेविमज्ज ठिउ जो सो सुरअ विलास ।

कोतर यह वहि तिहुअसे हिकस्ण पूरइ आस ।

सिद्धों के अतिरिक्त नाथ संप्रदाय में तो इस योग की प्रणाली का नाम ‘शब्द-सुरति-योग’ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है । अमरौघ-शासन में इस प्रणाली को सहज-समाधि प्राप्त करने वाले मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है और जिसमें शब्द की साधना पर अधिक बल

दिया गया है। यह शब्द-साधना और कुछ नहीं, सुरति शब्दयोग ही है। मच्छिन्द्र-गोरख-बोध में सुरति-निरति की व्याख्या इस प्रकार प्राप्त होती है :—

गोरख-स्वामी कौण सो सबद कौन सो सुरति

कौण सो बंध कौण सो निरति

दुबध्या मेरे कैसे रहे। सतगुर होइ सो बूझय कहै ॥

मच्छिन्द्र—अवधू सबद अनाहद, सुरति सो चित्त,

निरति निरालंभ लागै बंध।

दुबध्या मेरि सहज में रहे। ऐसा विचार मच्छिन्द्र कहै।

उपयुक्त उद्धरण से 'सुरति--शब्द-योग' पर पर्याप्त मात्रा में प्रकाश पड़ता है। शब्द अनाहत है। चित्त अथवा मन का इस शब्द में लग जाना, सुरति-शब्द योग है। 'निरालंभ-बन्ध' अर्थात् जब मन शब्द की आयास पूर्ण स्मृति अथवा ध्यान से मुक्त होकर प्रकृति रूप से अहर्निशि शब्द में अधिष्ठित हो जाता है, तो उस अवस्था को 'निरति कहते हैं और वही सन्तों तथा सिद्धों की सहज समाधि है।

मच्छिन्द्र नाथ इन तीनों (शब्द, सुरति तथा निरति) का स्वरूप स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित पंक्तियों में पुनः कहते हैं :—

अवधू सुरति सो साधक सो सिधि,

आप सो माया पर सो रिधि।

दुइ को मेरि निरति में रहे। ऐसा विचार मच्छिन्द्र कहै।

अर्थात् सुरति (मन, अथवा स्मृति, ख्याल) को शब्द में नियोजित करना सुरति-शब्द योग है। चूँकि सुरति को शब्द में पृवृत्त करने का कार्य साधन को करना पड़ता है, इसलिए उन्होंने साधक को ही सुरति की संज्ञा दी है तथा शब्द ही वह सिद्धि अथवा साध्य है जिसे उसे प्राप्त करना है। और निरति वह निरालंब अवस्था है, जो सुरति

के शब्द पर पूर्णतयः प्रतिष्ठित हो जाने पर आती है ।

सन्तों ने इसी 'सुरति-शब्द-योग' को साधना के अन्य मार्गों से सहज बताया है । उन्होंने भी सिद्धों तथा नाथों की भाँति इसकी महत्ता को अतिशय रूप से स्वीकार किया है । अब हम उनकी रचनाओं से 'सुरति' की इस महत्ता को देखेंगे । संत कबीर इस साधना की अन्य साधनाओं से विशेषता और महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं :-

सहजे ही धुनि होत है, हरदम घट के माँहि ।

सुरति शब्द मेला भया, मुख की हाजत नाहि ।

अर्थात् "इस साधना के द्वारा 'घट' के अन्तर्गत सहज रूप में (अपने आप बिना किसी प्रभाव के) ध्वनि होती रहती है । अब तो स्मृति और शब्द का मेल सम्मिलन हो गया है, अब मुख से बोलने की आवश्यकता नहीं रही ।" कबीर एक अन्य स्थल पर 'सुरति-शब्द योग' की महत्ता इन शब्दों में स्वीकार करते हैं :-

जपा मरै, अजपा मरै, अनहद हूँ मरि जाय ।

'सुरति-समानी' शब्द में ताहि काल नहि खाय ।

अर्थात् उनकी ये दृढ़ मान्यता है कि 'सुरति' के शब्द पर अधिष्ठित होने पर जीव फिर आवागमन के चक्र में नहीं फँसता । और बास्तव में किसी भी साधना की यही चरमोपलब्धि है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

'सन्त कबीर' के अतिरिक्त अन्य सन्तों ने भी मुक्त कण्ठ से 'सुरति शब्द-योग' की साधना पद्धति की महत्ता स्वीकार की है । हम क्रम से उनके एतद्विषयक उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं ।

दादू

मन माला तँह फेरिए जह दिवस न परसै रात ।

तहाँ गुरु बाना दिया, सहजै जपिए तात !

सुरति सदा सम्मुख रहै, जहाँ जहाँ लै जीन ।

सहज रूप सुमिरन करै, निह कर्मो दादू दीन ।

अर्थात् सुरति से शब्द का माला फेरिए । और इस प्रकार सहज रूप से प्रभु का स्मरण कीजिए ।

वह शब्द कौनसा है, जो इस साधना से स्फुरित होता है ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर प्रायः सभी सन्तों ने दिया है । यद्यपि इस साधना के द्वारा कुछ अन्य शब्दों की उपलब्धियों का जिक्र सन्तों ने किया है, उनमें से एक है 'सोह', किन्तु, इस स्थल पर इस विवाद के व्योरे में जाने का अवकाश नहीं है कि सन्तों ने अपनी साधना की चरम उपलब्धि 'सोह' शब्द में मानो है अथवा 'राम' में । हमारा अपना विचार है कि उन्होंने सर्वाधिक प्रकर्ष 'राम', 'रा रा कार' अथवा 'र रकार' की उपलब्धि पर दिया है । सन्त दादू कहते हैं :

राम सबद मुख तै रटै, पीछे लागा जाइ,  
मनसा, वाचा, कर्मणा तेहि तत सहज समाइ ।  
अन्तरगति हरि-हरि करै, तब मुख का हाजत नाहि,  
सहजै धुनि लागी रहै, दादू मन ही माँहि ।  
सहजै सुमिरण हांत है रोम रोम रमि राम,  
चित्त चहुँथा चित्त सों यौ लीजै हरि नाम ।

इन पंक्तियों में सन्त दादू ने 'सुरति-शब्द-योग' की महत्ता के अतिरिक्त उसकी चरम उपलब्धि 'राम' पर भी प्रकाश डाला है ।

**पलटूदास**

पलटूदास ने 'सुरति-शब्द-मेल' का भावनात्मक प्रयोग करके इसकी महत्ता इस प्रकार स्वीकार की है :

सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय  
मिली सबद में जाय कन्त को बस में कीम्हा  
खलै न शिव कै जार जाय जब सक्ती लीम्हा  
फिर सक्ती भी ना रहै, सक्ति से सीव कहाई  
अपने मन कै फेर और ना दूजा कोई  
सक्ती शिव है एक नाम कहने को दोई  
पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय  
सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय ।

सन्त पलटू की इन पंक्तियों में हमारी 'सुरति' सम्बन्धी मान्यता की गवाही मिलती है। एक अन्य स्थल पर उन्होंने हमारी मान्यता की ओर भी पुष्टि की है :

‘पलटू सुरति कमान पर नाम निसाना मार ।’

तुलसी साहिब हाथरस वाले

अजब इक कंवल में जुगल खिरकी बनी ।

चाँद और सुरज बिच गंग घाई ॥१॥

गगन आयग मन संग से चढ़ि गई ।

सुरत पर खोल गई भवन माहीं ॥२॥

ज्ञान गुरु से लिया पाइ अपना पिया ।

हिए की तपन पत पीर खोई ॥३॥

दास तुलसी कहै अगम घस रस पिया ।

लिया मन सूर सम ‘सुरत’ सोई ॥४॥

(तुलसी साहब की बानी पृष्ठ ८ बेलवेडियर प्रेस प्रयाग)

इस देखते में तुलसी साहिब ने भी ‘सुरत’ अथवा ‘सुरति-शब्द-योग’ की साधना द्वारा ही योग की सभी उपलब्धियों को स्वीकार किया है।

सन्त चरनदास

ना कोई सन्त समान है स्रा ।

मोह सहित सब सेना मारी ऐसो सांवत पूरा ॥१॥

छिपना की ढाल गही कर अपने बाँधे सस्त्र उदारा ।

करम-धरम को दल को पेलै पल-पल बारम्बारा ॥२॥

सुरत को तीर हृदय को तरकस ध्यान कमान बनावै ।

प्रेम हाथ सू खचन लागै चोट निसाने लावै ॥३॥

बुद्धि-विवेक कटारी बाँधे बचन बिलास की बरछी ।

सत पुरसों के हियरे बेध कहि-कहि बतियाँ तिरछी ॥४॥

चित में चाव चौगुनो उनके सुनि-सुनि अनहद तूरा ।  
 अगम पंथ सू पग न डिगावै होय जाय चक चूरा ॥५॥  
 मन हुलास आस घर पिय की सुनत खेत में धावै ।  
 चरनदास सुर देव कहत हैं अमर लोक पद पावै ॥६॥  
 (चरनदास जी की बानी, प्रथम भाग)

पृष्ठ (५७-५८) बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

इस पद में सन्त चरनदास ने सन्त शूर के बाण को सुरति, तथा तरकस और कमान ध्यान को माना है और उनकी मान्यता के अनुसार इसके ही प्रयोग के द्वारा अमरलोक पद (मुक्ति) प्राप्त हो सकता है ।

दरिया साहब बिहार वाले

सब्द एक मैं कहौं बुझाई, जो तुम पंडित बूझहु आई ।  
 मूल बिहङ्गम डोरी भाई, रवि ससि पवन जो सुझ समाई ।  
 सतगुरु सब्द जबहिं लिखि आवै, मूल फूल अमृत मुख पावै ।  
 होइ निरति तब सुरति देखावै, सार सब्द तब परगट पावै ।

गगन मंडल बिच सुरति संवारी, इङ्गला-पिङ्गला सुखमन नारी ।

साधहु सब्द जिवन जग मुकुता, पाप पुत्र कबहीं नहिं भुगुता ।

ऐसी जुगति जो जानै कोई, कह दरिया निजु जोगी सोई ।\*

दरिया साहब ने भी सुरति की महत्ता को स्वीकार किया है । उनके मतानुसार बिना 'सुरति' योग के योग की कोई भी उपलब्धि नहीं हो सकती । 'सुरति' ही के कारण 'निरति' होती है और 'सुरति' ही 'सार शब्द' का साक्षात्कार कराती है । 'गगन मंडल' अर्थात् 'सहस्रार चक्र' के बीच 'सुरति' ही ले जाती है और 'सुरति' ही 'इङ्गला-पिङ्गला और सुखमन' नाड़ियों का सम्मिलन करती है, जिसके कारण योग की अग्न्य उपलब्धियाँ सम्भव होती हैं । उनका कहना है कि योग

की इस पद्धति को जो जानता है वास्तव में वही योगी कहलाने का अधिकारी है। दरिया साहब के 'दरिया-सागर' में 'सुरति' के महत्व के अनेक उदाहरण हैं, किन्तु उन सबमें प्रायः एक ही प्रकार की बात कही गई है, इसलिए उनके उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं।

दूलनदास

गावै सूरत सुन्दरी, बैठी सत अस्थान ।

जन दूलन मन मोहिनी, नाम सुरंगी तान ॥<sup>१</sup>

सन्त दूलन दास ने भी 'सूरत-सुन्दरी' की महिमा इसलिए स्वीकार की है कि वह मनमोहिनी, 'नाम की सुरंगी तान' को गाती है। इस दोहे से सन्त दूलनदास का यह अभिप्राय है कि 'सुरति' के द्वारा ही प्रभु के उस नाम की तान की निरंतरता प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मन मुग्ध (मनोलय) होकर अपने संकल्प-विकल्प के प्रकृत गुण को त्याग देता है। और मनोलय हो जाने या स्थिर हो जाने के पश्चात् तो ऐहिक और पारलौकिक सभी उपलब्धियां संभव हो जाती हैं।

दो गुरु-बहिनों के 'सुरति' की मान्यता संबंधी उदाहरण देकर इस प्रसंग को विराम दिया जा रहा है।

ये दोनों गुरु बहिने सन्त चरनदास की शिष्यायें सहजो बाई और दया बाई हैं। 'सुरति-शब्द-योग' के माध्यम से इन दोनों गुरु बहिनों की चरम आध्यात्मिक उपलब्धि अंसदिग्ध है।

सहजो बाई

ऐसा सुमिरन कीजिए, सहज रहै लौ लाय ।

बिन जिभ्या बिनु तालुनै, अन्तर सुरत लगाय ॥<sup>२</sup>

१ दूलनदास की बानी पृष्ठ २६ (बेनवेडियर प्रेस प्रयाग)

२ सहजो बाई की बानी पृष्ठ ३७ (बेनवेडियर प्रेस प्रयाग)

ग्यारस गती जो चहत हो तजो जगत की आस ।  
कलह कल्पना छाँड़ि के आत्म में करि बास ॥  
आत्म में करि बास खँच, इन्द्री दस लावौ ।  
मन अस्थिर जब होय सुरति औ निरति मिलावौ ॥

ध्याता थाके ध्यान में ध्यान ध्येय के माँहि ।

जनम मरन मिटि सहजिया उपजै बिनसै नाहि ॥<sup>१</sup>

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में सहजो बाई ने योग पद्धति में सुरति-योग की सर्वाधिक महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने मीन और पिपीलिका मार्ग की अपेक्षा विहंगम-मार्ग की प्रधानता दी है, जो अजपाजप है। इस जप में जीभ और तालु के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। यह अभ्यतर है। इस जप की भूमि के लिए इन्द्रिय-विकारों को रोकना होगा क्योंकि जब तक मन स्थिर नहीं होगा, सुरति 'निरति' में प्रविष्ट नहीं होगी और जब तक सुरति निरति में प्रविष्ट नहीं होती तब तर ध्याता और ध्येय का भेद नहीं मिटेगा। और जब तक यह द्वैत है, सहजो का विश्वास है, आवागमन का चक्र नहीं मिट सकता, जिसमें सभी प्रकार के दुःख अनुस्यूत है।

दयाबाई

प्रथम पैठि पाताल सूँ धमकि चढ़ै आकास ।

'दया' सुरति नटिनी भई बाँधि बरस निजस्वास ॥

\* \* \*

चरन दास गुरु कृपाते मनुवाँ भयो अपंग ।

सुनत नाद अनहद 'दया' आठौ जाम अभंग ॥<sup>२</sup>

१ सहजो बाई की बानी पृष्ठ ४६ (वेलवेडियर प्रेस प्रयाग)

२ दया बाई की बानी पृष्ठ ११ (वेलवेडियर प्रेस प्रयाग)

दया बाई भी इन उद्धरणों में मुरति के महत्व पर नत-शिर हैं। उनका कहना है कि जब से गुरु चरन दास ने कृपा करके इस मार्ग में दीक्षित किया है, मन लँगड़ा होगया है, उसका समग्र चांचल्य समाप्त हो गया है और अब वह अष्ट-प्रहर निरंतर अनहद नाद को सुना करता है।”

हमारे उपर्युक्त उद्धरणों और विवेचन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि सन्तमत में ‘सुरति’ की क्या मान्यता रही है और मत में इस शब्द को कितनी महत्वपूर्ण दृष्टि से देखा जाता है।

### निरति और सहज समाधि

‘सुरति’ के विवेचन के पश्चात् अब हम देखेंगे कि सन्तमत में ‘निरति और सहज-समाधि’ की क्या मान्यता रही है। ‘सुरति’ के पश्चात् प्रायः ये ही दो पारिभाषिक शब्द हैं, जिस पर सन्तों के अध्येताओं और शोधकों का मन सहसा टिक जाता है। वे यह सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि वास्तव में सन्तों ने इन शब्दों का प्रयोग किन अर्थों में किया है। और यह कठिनाई इस लिए उपस्थित होती है, क्योंकि बिना इन शब्दों के अर्थों की वास्तविक जानकारी के ‘सन्त-मत’ की साधना-पद्धति की उपलब्धियों की बहुत सी गुत्थियाँ नहीं सुलझतीं। सर्व प्रथम हम इन शब्दों के विषय में उन मतों का उल्लेख करेंगे, जो विद्वानों ने समय-समय पर अपने प्रगाढ़ मनन के द्वारा निश्चित किए हैं। तत् पश्चात् हम सन्तों की बानियों से इन शब्दों के अर्थों को खोलने की चेष्टा करेंगे। सन्तों के समीक्षकों ने स्थूल रूप से ‘निरति’ संबन्धी निम्नलिखित अर्थ निश्चित किये हैं:

निरति – तल्लीनता

निरति – निरंतरता और निरति ( नितरां रतिः = निरति )  
अर्थात् प्रेम की अतिशयता, निरति है ।

निरति = नि+रति = जिसमें रति अर्थात् प्रेम की भावना की सम्भावना न रह जाय

निरति - नृत्य

ऊपर के मतों के अतिरिक्त डा० धर्मवीर भारती ने 'निरति' को अनाहद नाद के भी ऊपर की अवस्था माना है। वे कहते हैं, "शब्द अनाहद नाद है जो विशुद्धारण्य तथा आज्ञा चक्र में सुन पड़ता है। किन्तु निरति उससे भी ऊपर की अवस्था है जिसमें निरालम्भ की स्थिति आती है। वही सहज है '१ अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने मच्छिन्द्र नाथ का यह पद्य उद्धृत किया है:

मच्छिन्द्र—अबधू सबद् अनाहद सुरति सो चित्त

निरति निरालय लागी बध

दुविधा मोह सहज में रहै। ऐसा विचार मच्छिन्द्र कहै।

'निरति' के उद्गम की यह मान्यता हठ योग-प्रदीपिका के इस अवतरण से भी संयुक्त की जाती है। जिसमें विष्णु के परम पद में अनाहत नाद की समानता का उल्लेख है और उसके भी ऊपर वह निराकार परमेश्वर है जहां शब्द भी निःशब्द हो जाता है।

निरति-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन में 'तल्लीनता' और निरन्तरता तो प्रायः पर्यायवाची हैं। 'सुरति का शब्द मे सातत्य ही निरन्तरता अथवा तल्लीनता है और सुरति की शब्द के साथ अतिशयता भी 'तल्लीनता' का ही अर्थ द्योतित करती है सुरति जब शब्द में एक तान हो जाती है, तभी 'निरति' की अवस्था की उपलब्धि होती है।

नृत्य के अर्थ में संभवतः 'निरति' का यह अर्थ हो सकता है कि जब 'सुरति' शब्द में बंक्रनाल (मेरुदण्ड) के अन्तर्गत सुपुम्ना नाड़ी में नृत्य करती हुई सहस्रार की ओर अग्रसर होती है और उसकी इस प्रक्रिया से आनन्द की एक विशेष अवस्था की प्राप्ति होती है, यही विशेष अवस्था 'निरति' है। और निरति की (नि+रति)

व्युत्पत्ति द्वारा जिस शब्द के साथ सुरति के योग की सम्भावना भी न रहने का संकेत मिलता, है 'निरति' की वह अवस्था भी प्रायः वही है, जिसे उपर्युक्त अन्य विवेचनों में स्वीकार किया गया है। अर्थात् 'निरति' की अवस्था की उपलब्धि के पश्चात् सुरति का शब्द में योग करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस अवस्था में साधक को योग की चरम सिद्धि प्राप्त हो जाती है, और यदि वह साधना छोड़ भी दे तो साधना उसे नहीं छोड़ती।

अस्तु, उपर्युक्त समस्त विवेचन से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। वह यह है कि 'निरति' संत-मत में उस अवस्था को कहते हैं, जहाँ 'सुरति' निराधार हो जाती है, निरालम्ब हो जाती है और शब्द में वह निरंतर लग जाती है। उसके शब्द-योग में फिर किसी अन्तराय की सम्भावना नहीं रह जाती। साधक को इस स्थिति में परम सुख की प्राप्ति होती है। उपर्युक्त 'निरति' संबन्धी मान्यता में यद्यपि प्रथम दृष्टि में बड़ा विरोध प्राप्त होता है, किन्तु शब्दों के आवरण को हटा देने से हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

'सहज-समाधि' 'सुरति' तथा 'निरति' के सम्मिलन से प्रादुर्भूत अवस्था विशेष का नाम है। अर्थात् 'सुरति' के शब्द के साथ निरन्तर योग की अवस्था तो 'निरति' है और उससे प्रादुर्भूत अवस्था सहज-समाधि है। इस समाधि को निर्विकल्प और सविकल्प समाधि से भिन्न सहज समाधि का नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि निर्विकल्प और सविकल्प समाधि में तो स्वासावरोध होकर शरीर काष्ठवत् हो जाता है और ऐसा योगी किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी समग्र इन्द्रियाँ अशक्त होकर मृतवत् हो जाती हैं और उसकी अवस्थिति एक नियत समय तक ही रहती है। किन्तु, सहज-समाधि में इन्द्रियों से अशक्त अथवा शिथिल होने का कोई

कारण नहीं है। इस अवस्था में तो मन सतत रूप से शब्द के सुनने में लीन रहता है और वह चाहकर भी विषयानुरक्त नहीं हो सकता। शब्द के लीनत्व द्वारा उसका समग्र विकल नष्ट हो जाता है, उसका अहं मिट जाता है। वह संसार के सभी कार्य करता है, किन्तु उसकी आसक्ति किसी में नहीं होती। इस प्रकार की सांसारिक विषयों से अनाशक्ति पूर्ण अवस्था का जिसमें मन सतत रूप से 'शब्द' में लीन रहता है, सन्तों द्वारा सहज-समाधि की अवस्था स्वीकृत हुई है।

'निरति' अवस्था के फलस्वरूप जिस सहज-'समाधि' की अवस्था की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन करते हुए डा० धर्मवीर भारती कहते हैं। उन्होंने इस स्थिति को 'निरक्षर' माना है। अर्थात् जहाँ पर अब सुरति को शब्द की भी आवश्यकता नहीं रही। वे कहते हैं:

“कबीर भी जप की अन्तिम परिणति निःशब्द मौन ही मानते थे। 'जपा मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।' परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इसी 'निरक्षर' को शब्द का विदेह रूप बताया गया है जिसमें बिना रसना का जाप होता है इसी को सूक्ष्म सहज-पन्थ कहा गया है।” 'सुरति' के 'निरति' में समाने पर ही 'सहज-समाधि' की अवस्था प्राप्त हो सकती है और अपने अन्तर्गत ही प्रभु का साक्षात्कार हो सकता है। यही अवस्था सहज समाधि है।

कबीर ने ठीक ही कहा है कि सुरति के निरति में समा जाने पर फिर 'अजपा' में ही 'जाप' होने लगता है।

“सुरति समांनी निरति में अजपा माहै जाप।

लेख समाना अलेख में यूँ आया माहै आप॥”

सन्त-मत की 'सहज-समाधि' के विषय में अपने विचार प्रकट

करते हुए, संत-साहित्य के समंज और विद्वान श्री परशुराम चतुर्वेदी कहते हैं : -

“सन्तों की इस साधना में किसी ऐसी ‘समाधि’ को भी स्थान नहीं, जो किसी अवधि विशेष तक ही कायम रह सके। सन्त-मत का आदर्श समाधि वह अपूर्व स्थिति है जो साधको के जीवन भर एक रस बनी रहे और उसमें किसी क्षणिक परिवर्तन की -अशंका भी न आने पाये। इसीलिए उसे ‘सहज समाधि’ का भी नाम दिया गया है। सन्तों का कहना है कि हमारी साधना का पूर्णतः सिद्ध हो जाना तभी सार्थक है जब हमारे जीवन में पूरा काया पलट आ जाय, जब हमारी सारी वृत्तियों का रुझान पूर्ववत् न रह कर सर्वथा नवीन रूप ग्रहण करले और हमारे लिए पुनर्जन्म की जैसी स्थिति भी आ जाय। ‘सन्तों’ ने इसीलिए इस दशा को ‘जीवन मृतक’ भी कहा है और बतलाया है कि इसमें पहुँच कर साधक जहाँ अपने पहले जीवन की दृष्टि से ‘मृतक’ बन जाता है वहाँ इस नवीन दृष्टि से अमरत्व भी पा लेता है। ‘जीवन मृतक’ वह जीवन्मुक्त पुरुष है जो सदा किसी ब्राह्मो स्थिति में लीन रहा करता है तथा उसमें रहते हुए भी \* कभी समाज के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं प्रदर्शित करता।

श्री परशुराम चतुर्वेदी के उपर्युक्त ‘सहज-समाधि’ विषयक अभिमत से न केवल ‘सहज-समाधि’ पर ही वरन् सन्तों द्वारा स्वीकृत ‘निरति’ पर भी प्रकाश पड़ता है। इस अवतरण से बड़ी सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सुरति की शब्द में एकतानता निरति है, और उससे प्रादुर्भूत अवस्था विशेष का नाम सहज-समाधि है, जो संतों की चरम उपलब्धि के रूप में संत-मत में स्वीकृत हुई है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस अवस्था की प्राप्ति के पश्चात् मन से अहं का पूर्ण निरसन हो जाता है और मन में राग द्वेष न रहने के

---

\*हिन्दी-साहित्य कोश, पृ० ७८६, संपादक डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि।

के कारण उस साधक को जीव-मृत की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। यद्यपि वह संसार में रहता है, और सभी कार्य भी सुचारु रूप से करता है किन्तु उनके प्रति उसकी न तो कोई आसक्ति ही होती है और न द्वेष ही। इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति का शुभा-शुभ कर्म नहीं बनता। इसे एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे हम गेहूँ या चने को उबालें तो उसका स्वरूप तो वही रहेगा किन्तु उसमें भी प्रजनन शक्ति जो उस गेहूँ अथवा चने का अहकार है जाती रहेगी। अर्थात् वह गेहूँ अथवा चना जीव-मृत हो गया। ठीक यही अवस्था 'सहज-समाधि' प्राप्त व्यक्ति की होती है। वह संसार के लिये जीवित प्राणी है, किन्तु उसके समग्र कार्य सांसारिक प्राणियों के से होते हुए भी उनसे मूलतः भिन्न हैं। क्योंकि सांसारिक प्राणियों के कार्य अह संपृक्त होते हैं, किन्तु सहज समाधि प्राप्त व्यक्ति सर्वथा अहं असंपृक्त रहता है। जिस प्रकार बैद्य उबाले हुए गेहूँ अथवा चने को कहता है कि यह अब सिद्ध हो गया। या गेहूँ और चने को उबालने को सिद्ध करना कहते हैं। ठीक उसी प्रकार 'अह-कार होन' तथा सहज-समाधि प्राप्त व्यक्ति की संज्ञा 'संत-मत' में सिद्ध महात्मा या केवल सिद्धि की हो जाती है।

'निरति' और 'सहज-समाधि' के इस विवेचन के पश्चात् अब हम अपने अभिमत की पुष्टि के लिये सन्तों की 'बाणियों' से इन शब्दों के उदाहरणों द्वारा उनका अन्तः साक्ष्य उपस्थित करेंगे।

सन्त कबीर निरति तथा सहज समाधि का सश्लिष्ट रूप उपस्थित करते हुए कहते हैं :—

जपा मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।

सुरति समानी शब्द में, ताहि काल नहि खाय।

अर्थात् जप और अजपा (पिपीलिका और मीन मार्ग के साधक) तथा अनहद तक की आध्यात्मिक उपलब्धि वाले महात्मा, मरते हैं अर्थात्

बार-बार आवागमन के चक्र में पड़ते हैं। किन्तु, जिस साधक की सुरति शब्द में प्रविष्ट हो जाती है (निरति की अवस्था प्राप्त कर लेती है) और उसके फलस्वरूप उसे 'सहज समाधि प्राप्त हो जाती है तथा इसी कारण उसका आवागमन नहीं होता, वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, उसे काल नहीं खाता।

कबीर ने अन्यत्र भी इन दोनों अवस्थाओं के विषय में स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है :—

‘सुरति समानी निरति मैं, निरति रही निरधार।

सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयं दुआर।’

(कबीर ग्रन्थावली, १४)

‘सुरति’ शब्द के साथ निरन्तरता प्राप्त कर लेती है, और ‘निरति’ निराधार हो जाती है अर्थात् शब्द के साथ तल्लीनता प्राप्त करने के लिए जब ‘सुरति’ की आवश्यकता नहीं रहती, तभी ‘स्यंभु दुआर’ अर्थात् ‘दशम द्वार’ (सहस्रार चक्र) जो सन्त-मत के अनुसार साधना का अन्तिम सोपान है, खुलता है। ‘दशम-द्वार’ अर्थात् सहस्रार चक्र में सन्त शिव-पार्वती का आवास मानते हैं। दोहे में इसीलिए उसे ‘स्यंभु दुआर’ कहा गया है।) ‘निरति’ के निराधार होने के फलस्वरूप बिना आभास के स्वयमेव साधना चला करती है। शब्द ध्वनि का आभास न केवल शरीर के किसी अङ्ग विशेषतक सीमित रहता है, वरन् समग्र शरीर में व्याप्त हो जाता है। जायसी ने उस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

‘हाड़ भए सब किगरी, नसैं भईं सब ताँति।

रोम-रोम से ध्वनि उठै, बिथा कहीं केहि भाँति’।

साधक को वह ‘शब्द’, अस्थि, स्नायु-मंडल और रोमों को परिखा को पार कर के (जो शरीर तक ही सीमित हैं) समग्र विश्व में सुनाई पड़ने लगता है। ऐसी अवस्था में मन को अग्यत्र जाने का

अवकाश ही नहीं रह जाता। वह अपने चिंचल्य को छोड़ कर एकाग्र हो जाता है। उसकी इस प्रकार की अवस्था विशेष का नाम ही सहज समाधि है, जो 'सुरति' के 'निरति' में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् प्राप्त होती है।

'सुरति-निरति' का शब्द के साथ योग संत चरनदास के निम्न-लिखित पद में देखिये। उनके अनुसार सुरति के निरति में प्रविष्ट हो जाने पर ही, शब्द ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है :

नौ नाड़ी को खँचि पवन लै उर में दीजै।

बज्जर ताला लाय द्वार नौ बन्द करीजै।१।

तीनों बन्द लगाय अस्थिर अनहद आराधै।

सुरति निरति का काम राह चल गगन अगाधै।२।

सुप्त सिखर चढ़ि रहै दृढ़ जहाँ आसन करै।\*

मन चरनदास ताड़ी लगै सो रामदरस कलिमल हरे।३।

उपयुक्त पद की तीन पंक्तियों में सन्त चरनदास ने 'हठ योग' की साधना-पद्धति का उल्लेख किया है, जिसमें साधक नाड़ी-शोधन, तथा शरीर के नवों रघों को बन्द कर उड्डियानबन्ध, जालंधर बंध आदि बंधों को लगा कर प्राणायाम द्वारा अनाहत ध्वनि सुनता है। किन्तु, अन्तिम तीन पंक्तियों में वे 'सुरति शब्द-योग' की उपलब्धियों की चर्चा करते हैं। सन्त चरनदास के अनुसार कदाचित् हठ योग की चरम-उपलब्धि अनाहतनाद ही है। किन्तु इसके आगे भी वे आध्यात्मिक स्थिति मानते हुए प्रतीत होते हैं और इसके लिए वे 'सुरति-शब्द-योग' की ही साधना सबसे अधिक उपयुक्त मानते हुए वे कहते हैं कि "अगाध गगन मार्ग में चलने के लिये सुरति-निरति का ही काम रह जाता है, सुरति-निरति में प्रविष्ट होकर शून्य शिखर (सहस्रार चक्र) तक साधक के मन को पहुँचा देती है, जहाँ वह सुदृढ़ आसन में

से बैठता है। सुरति के निरति अवस्था तक पहुँच जाने पर शब्द अथवा राम नाम की ताड़ी लग जाती है अर्थात् शब्द-ध्वनि निरन्तर हो जाती है और शब्द की यही निरन्तरता कलमल को—अहंकार को नष्ट करने वाली है। शब्द का यही निरन्तर्य (ताड़ी) सन्तों की सहज समाधि है।

इसी सन्दर्भ में महात्मा चरनदास का एक और पद देखिये :

“मन पवना वस कीजिये, ज्ञान जुक्ति सूँ रोक।

सुरति बांधि भीतर घसै, सूझै काया लोक ॥१॥

चरन दास यहि विधि कही, चढ़िबे कूँ आकास \*।

सोधि साधि साधन अगम, पूरन ब्रह्म विलास ॥२॥

चरनदास जी इस पद के अन्तर्गत कहते हैं कि ज्ञान-युक्ति के द्वारा पवन रूपी मन को अपने वश में कीजिये। फिर अपनी सुरति को (शब्द में बाँधकर) बाँधकर अपने अन्तर्गत प्रविष्ट हो। इस प्रक्रिया से तुम्हें काया-स्थित सभी लोक दृष्टिगोचर होने लगेंगे। इस प्रकार एक ‘विहङ्गम’ के समान आकाश को चढ़ो अर्थात् मूलाधार चक्र से सहस्रार चक्र तक पहुँचो। इस प्रकार तुम्हें पूर्णब्रह्म-विलास प्राप्त होगा।” यद्यपि इस पद में निरति का कहीं उल्लेख नहीं है। किन्तु पूर्ण ब्रह्म विलास (सहज समाधि) की स्थिति तभी प्राप्त होगी जब सुरति की शब्द के साथ निरन्तरता प्राप्त हो जाय। ‘सन्तों’ का ब्रह्म से तात्पर्य ‘शब्द-ब्रह्म’ से है और सुरति का शब्द के साथ सातत्य प्राप्त हुए बिना शब्द की निरन्तरता में बाधा उपस्थित होगी, जिससे पूर्णानन्द में भी व्याघात होगा। अस्तु, इस पद में ‘ब्रह्म विलास’ के द्वारा सहज समाधि का और उसके पूर्व की अवस्था को ‘निरति’ व्यंजना से द्योतित किया है।

सुरति के निरति में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् 'सहज समाधि' अद्भुत उपलब्धि की महत्ता का वर्णन केशवदास जी के एक पद में देखिए :

गगन मगन धुनि लगन लगी,  
सुनत सुनत तन त्रिप्त भई ।  
जगर मगर नहि डगर बगर नहि,  
रवि ससि निसु दिन भाव नहीं ।  
प्राण गधन हरि पवन मवन करि,  
मिलि सन्मुख पिय बाँह गही ।  
सत रति सन्त पती हम पावल,  
केसोदास सुहाग सही\* ।

इस पद में शब्द-ध्वनि की निरन्तरता ही 'निरति' है और उसके अव्याहत सुनने से परम तृप्ति की प्राप्ति 'सहज-समाधि' की अवस्था है, जिससे हर प्रकार के द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं और साधक और प्रभु का प्रेमालिङ्गन ठीक उसी प्रकार होता रहता है, जैसे समग्र भावेन पति अपिता सौभाग्यवती नारी का अपने पति के साथ होता है ।

'निरति' तथा 'सहज समाधि' सम्बन्धी दो कुण्डलियां पलटू साहब की बानी से उद्धृत किये जा रहे हैं ।

(१)

मन की मौज से मौज है और मौज किहि काम ।  
और मौज केहि काम मौज जो ऐसी आवै  
आठो पहर अनन्द भजन में दिवस बितावै ।  
ज्ञान समुद्र के बीच उठत है लहर तरंगा ।  
तिरबेनी के तीर सरसुती जमुना गंगा ।

सन्त सभा के मध्य सब्द की झड़ जब लागै ।  
 पुलकि पुलकि गलतान प्रेम में मन को पागै ।  
 पलटू रहै बिबेक से छूटै नहि सतनाम ।  
 मन की मोज से मोज है और मोज किहि काम<sup>१</sup> ॥

(२)

ज्ञान समाधि जाको मिली सो क्या लावै ध्यान ॥  
 सो क्या लावै ध्यान ध्यान दुतिया कहवावै ।  
 आप भया पासाह कौन के मुजरे जावै ॥  
 भजनी से भा भजत भजत कौन अब आवै जावै ।  
 लिहा निसाना मारि कौन अब तीर चलावै ॥  
 मन के संकल्प भजन रूप धपनो दरसावै ।  
 जो इहवाँ सो उहां संकल्प को दूरि बहावै ॥  
 पलटू लगी सो लगि गई कौन होय हैरान ।  
 ज्ञान समाधि जाको मिली सो क्या लावै ध्यान ॥<sup>२</sup>

प्रथम कुण्डलियों के अन्तर्गत सन्त पलटूदास ने 'सुरति' के द्वारा 'निरति' और फिर 'सहज-समाधि' के रूप को स्थिर किया है । वे कहते हैं कि सुरति की निरन्तरता के द्वारा प्राप्त अवस्था (सहज-समाधि) के आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता । दूसरे कुण्डलिया के अन्तर्गत उन्होंने सहज समाधि (ज्ञान समाधि) के स्वरूप और उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है ।

इस प्रकरण के अन्त में सन्त कबीरदास का बहुश्रुत पद दिया जा रहा है, जिसमें उन्होंने 'सहज-समाधि' के स्वरूप और महत्ता पर प्रकाश डाला है :

---

१ पलटू साहिब की बानी, पृष्ठ ४६ बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।

२

॥

॥

५६

१।

### साधो सहज समाधि भली

गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन-दिन अधिक चली ॥  
जहं-जहं डोलों सो परिकरमा, जो कुछ करों सो सेवा ।  
जब सोवों तब करों दण्डवत, पूजों और न देवा ॥  
कहीं सो नांम, सुनों सो सुमिरन, खाव पियों सो पूजा ।  
गिरह उजाड़ एक सम लेखौ, भाव मिटावौ दूजा ॥  
आंख न मूँदों नाक न सूँघों, तनिक कष्ट नहि धारों ।  
खुले नैन पहिचानों हंसि-हंसि सुन्दर रूप निहारों ॥  
कह कबीर यह उनमुनि रहना सो परगटि करि गई ।  
सुख दुख से कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई ॥

कबीर के उपर्युक्त पद में सन्त-मत द्वारा स्वीकृत अध्यात्म की चरम-उपलब्धि 'सहज-समाधि' की महत्ता पर अतिशय रूप से प्रकाश पड़ता है । इस पद के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'सहज समाधि' परमानन्द की वह अवस्था है, जिसकी प्राप्ति के लिए जीव अनादि काल से अनेक जन्मों से यात्रा कर रहा है, और उसे वह अभी तक प्राप्त नहीं कर सका ।

हमारी उपर्युक्त स्थापनाओं के सारांश का समापन इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) सुरति-शब्द-योग, योग की वह प्रक्रिया है, जिसमें अपनी स्मृति का प्रकर्ष 'शब्द-श्रवण' में दिया जाता है अर्थात् मन की वहि-मुंखी-वृत्ति को अभ्यन्तर में होने वाले शब्द में नियोजित किया जाता है ।

(२) निरति-सन्तों की साधना की वह अवस्था है जिसमें सुरति बिना आभास के निरन्तरता प्राप्त करती है और शब्द के साथ इस प्रकार सहजता प्राप्त कर लेती है कि उसे 'निरालंब' की स्थिति कहा जा सकता है ।

(३) 'निरति' की इस 'निरालंब' स्थिति के फलस्वरूप प्रादुर्भूत अतीन्द्रिय और सहज अवस्था का नाम 'सहज-समाधि' है, जो निर्विकल्प तथा सविकल्प समाधि से मूलतः भिन्न है क्योंकि उन समाधियों में अवधि की सीमा है, किन्तु यह निरन्तर बनी रहती है ।

'सुरति' 'निरति' और 'सहज-समाधि' सम्बन्धी अपने इस विवेचन को हम 'सन्तों की बानियों' की गवाही के साथ ही समाप्त कर रहे हैं । हमारा विचार है कि हम अपने विवेचन में पर्याप्त स्पष्ट रहे हैं, किन्तु, फिर भी हम यह दावा नहीं करते कि इस विवेचन में अस्पष्टता रह ही नहीं गई, क्योंकि यह विषय क्रियात्मक साधना से सम्बन्ध रखता है और इसका सम्पूर्ण रहस्य तो अनुभव के द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है । अस्तु, इसकी समग्र जानकारी तो साधक के ही वश की बात है । अनुभूति के घरातल की वस्तु बौद्धिक-स्तर पर संव्या स्पष्ट नहीं की जा सकती ।

---

## सन्त-भक्त की साधना के अन्तराय

सन्तों की दैव्य-सम्बन्धी मान्यता के विषय में लिखते हुए हमने उनकी साधना के कुछ अन्तरायों की चर्चा की है। किन्तु, हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में विस्तार-पूर्वक लिखने की आवश्यकता है क्योंकि सन्तों ने अपनी बानियों के अन्तर्गत इनके निषेध पर विशेष बल दिया है। उनका तो इन अन्तरायों के विषय में यहाँ तक कहना है कि बिना इनसे पूर्ण मुक्ति पाए हुए कोई भी उनकी साधना में प्रविष्ट होने का अधिकारी नहीं है। क्योंकि इन अन्तरायों की संख्या तो चाहे थोड़ी ही हो किन्तु उनकी व्याप्ति बहुत अधिक है। मन उनमें से एक से भी प्रादुर्भूत विषयों के असीम तारतम्य को भोगने में सर्वथा अक्षम है, फिर उन सबके प्रलोभनों से मुक्ति पाना अनेक जन्मों में भी सन्देह की ही बात है। और मन एक ही है। वह या तो इन अन्तरायों की अनादि-श्रृंखला की उलझन में पड़े या फिर मुक्ति की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे, साधना में प्रवृत्त हो। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि उसकी (मन की) प्रवृत्ति वहिर्मुखी होने के कारण उसके लिए यह सङ्ग है कि इन अन्तरायों में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित करे और मुक्ति-पुरुषार्थ से पराङ्मुख हो। क्योंकि मुक्ति के प्रयास में साधना-पथ का आश्रय लेना अपनी मन रूपी नौका को संसार रूपी नदी की उलटी धार की ओर मोड़ना है। सन्तों ने कदाचित् इसी लिए अपनी साधना के विशेषणों में एक विशेषण 'उलट-धार' का भी रखा है। जैसा कि सन्त पलटू का कहना है,

“सुरति सुहागिन उलटि कै मिली शब्द में जाय,  
मिली शब्द में जाय कन्त को बस में कीन्हा ।”

अर्थात् अब सुरति जो (स्मृति) सांसारिक विषयों में सहज ही रमती थी, उलट कर ‘शब्द’ से संयुक्त होगई है। सुरति अर्थात् मन की वृत्ति का ‘शब्द’ में प्रवृत्त हो जाना ही ‘उलट-धार’ है, अन्तरायों से मुक्ति प्राप्त करके तत्त्व-ग्रहण है। अब हम सन्तों द्वारा स्वीकृत उन अन्तरायों का विवरण तथा उनके आध्यात्मिक मार्गान्तर्गत उत्पातों का लेखा उपस्थित करेंगे, जिनके ऊपर विजय अथवा वश पाने के लिए सन्तों ने बारबार सचेत किया है। साधना के उन अन्तरायों की संख्या की परिगणना सन्तों ने विशेष रूप से पाँच विग्रहों में की है। उनके नाम इस प्रकार हैं (१) काम (२) क्रोध (३) मोह (४) लोभ और पाँचवाँ अहंकार। किन्तु जैसा कि हमने कहा हैं इनमें से एक का भी व्याप्ति असीम है। हम इनके प्रभाव और व्याप्ति को क्रमशः देखने की चेष्टा करेंगे ।<sup>१</sup>

### काम

सर्व प्रथम हम काम की ही व्याप्ति और प्रभाव पर विचार करेंगे। क्योंकि हमें ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य वृत्तियों अथवा अन्तरायों की उत्पत्ति काम से ही होती है। इस विवेचन में हम प्राच्य और पाश्चात्य तथा प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों की मान्यता का उल्लेख करते हुए अन्त में सन्तों की ‘बानियों’ से उनके अभिमत पर विचार करेंगे।

१ कामी क्रोधी लोभिहिहि इनसे भक्ति न होय ।

भक्ति करै कोऊ सूरमा, दीन-धरम दोउ खोय ॥

भारतीय-साहित्य में काम के विविध रूप प्राप्त होते हैं । हम इस शब्द का उल्लेख सर्व प्रथम ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इस प्रकार पाते हैं ।

कामस्तग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत् ।  
सतो बन्धुमसति निर विन्दन हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋग्वेद १०।१२६।४

अर्थात् 'पुरुष काममय है । काम मन का रेतस है । वही प्रारंभ में शिशु के कोमल हृदय-स्पन्द में पल्लवित होता है । किन्तु इसकी पहचान वही करपाता है, जो अपनी संस्कार जनित भावनाओं से मुक्त होकर सत्य को देखने की अभिलाषा करता है ।' ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्व वेद में भी काम का उल्लेख विस्तार से प्राप्त होता है । वहाँ इसका विवरण, सर्व प्रथम उत्पन्न होने वाला पितर एवं मर्त्याँ में ज्येष्ठ, महान, पृथ्वी, आकाश और जल में सर्वत्र व्याप्त, श्रेष्ठ नेता, वीर्यशाली, उग्र ईशान, बलवान, शत्रुविनाशक, कल्याणकारी इत्यादि के रूप में मिलता है ।<sup>१</sup>

वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी काम का उल्लेख मिलता है । ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि सृष्टि-रचना के पहले

१ कामो जज्ञे प्रथमं नैनं देवा आयुः पितरो मर्त्याः ।

ततस्त्वमसि ज्यायान विश्वहा महांस्तस्यै ते काम नम इत् वृणोमि

अथर्व ६।१।१६

युष्वभ्यं काम दुरितं च कामा प्रजस्ताम स्वगतामवर्तिम् ।

उग्रईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमं हरण चिकित्सति ॥

अथर्व ६।१३।३

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सखा आ सखीयते ।

त्वमुग्रः पृतनासु सासाहः सह ओजो यजमानाय घेहि ॥

अथर्व १६।६।५२।२

प्रजापति के हृदय में सर्व प्रथम कामोद्रेक इच्छा के रूप में हुआ । और काम ही की प्रेरणा से प्रजापति की सृष्टि रचना अथवा प्रजासृष्टि के लिए समुद्यत होना पड़ा । ‡ कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरिय ब्राह्मण में काम को सभी का प्रेरक, दाता एवं प्रति गृहीता कहा गया है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति काम से प्रेरणा पाकर ही कुछ देता-लेता है । इसके अतिरिक्त इसे अनन्त समुद्र, भूत और भविष्य का सम्राट तथा संसार का स्रष्टा बतलाया गया है । साथही इसे सभी कामनाओं का पूर्ण करने वाला इत्यादि भी बतलाया गया है । १ इसके अतिरिक्त शत पथ ब्राह्मण में लिखा है कि प्रजापति के हृदय में सर्व प्रथम काम का निवास हुआ जिससे प्रेरित होकर उसने सृष्टि-रचना की इच्छा की । २

उपनिषदों में भी काम का उल्लेख विभिन्न रूपों में प्राप्त होता है । इनमें कहीं तो इसका वर्णन आध्यात्मिक शक्ति के रूप में और कहीं इच्छा या कामना के रूप में हुआ है । ऐतरेय उपनिषद् के अन्तर्गत काम को ब्रह्म के जानने की शक्ति कहा गया है<sup>३</sup> मुण्डक उपनिषद् में इसका उल्लेख केवल इच्छा शक्ति अथवा कामना के रूप में हुआ है।<sup>४</sup> तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्मा के हृदय में सृष्टि उत्पन्न करने की

‡ प्रजायतिर काम यत प्रजायेय भूत्यांत्स्यामीति ।

ऐतरेय ब्राह्मण ४।४।२३

१-कामः कामायेत्याह । कामेन हि ददाति । कामेन प्रतिगृह्णाति ।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीतेत्याह । समुद्र हव हि कामः । नैव हि कास्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य । . . . कामो भूतस्य भव्यस्य सञ्जाडे कोविराजति । सइदं प्रतिपप्रथे । ऋतूनुत्सृजते बशी—तैत्तरीय ब्राह्मण

२।२।१।१६, २।४।१।६—१०

२-शतपथ ब्राह्मण २।४।४।१

३-ऐतरेय उपनिषद् ३।२।२

४-मुण्डक ३।२।२

कामना उत्पन्न करने वाली प्रेरणा शक्ति के रूप में वर्णन मिलता है।१

इनके अतिरिक्त कामसूत्रों का तो यह बहुचर्चित विषय है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्रों में काम को एक ऐसी प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है, जिसके अभाव में जीवन का कोई भी कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। हमारी सभी इन्द्रियाँ काम की प्रेरणा से ही अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। इसलिए यहां पर काम को सार्वभौमिक महत्ता प्रदान की गई है।२

महाभारत में काम को बड़े उत्तम रूप से स्मरण किया गया है। वहां इस प्रकरण को 'काम-गीता' की संज्ञा दी गई है। वहाँ काम अपने को अद्वितीय और अपराजेय मानता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि बिना योगाभ्यास अथवा आत्मसाक्षात्कार के कोई भी उसको नष्ट नहीं कर सकता। जो व्यक्ति यज्ञादि कर्मों द्वारा उसका विनाश करना चाहता है, उसे वह प्रवंचना में डाल कर यह अनुभव कराने लगता है कि वह बड़ा धर्मात्मा है। और यदि कोई उसको सत्य से पराजित करना चाहता है तो वह उसके मन का स्वरूप धारण करके अदृश्य हो जाता है। और इसी प्रकार वह तप में तप, मोक्ष प्राप्ति के द्वारा नाश करने वाले के हृदय में मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा का रूप धारण करके उसे परास्त करता है। और इस प्रकार सभी परिस्थितियों में व्यक्ति के लिये अपराजेय बना रहता है।३ किन्तु महाभारत के 'शान्ति पर्व' में काम के वासनात्मक रूप को भी

१-तैत्तरीय २।१।६

२-वात्स्यायन कृत कामसूत्र १।१-२

३-The vision, vol. XXII No. 10, July 1955  
last page.

वर्णन प्राप्त होता है। महाभारतकार ने एक वृक्ष के रूप में काम का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'मनुष्य के हृदय में मोहरूपी बीज से उत्पन्न एक वृक्ष है, जिसका नाम काम है। उसके काम और क्रोध महान स्कंध है। कुछ करने की कामना ही, उसका जल सींचने का पात्र है। अज्ञान ही उसकी जड़ है तथा प्रमाद उसे सिंचित करने वाला जल। पर छिद्रान्वेषण काम रूपी वृक्ष के पत्ते हैं तथा पूर्वजन्म में किए हुए पाप उसके सार-भाग हैं। शोक उसकी शाखा तथा मोह और चिन्ता उसकी डालियाँ तथा भय उसके अंकुर हैं और तृष्णारूपी लतायें सदैव उससे लिपटी रहती हैं।<sup>१</sup> भगवान् कृष्ण ने गीता में उसे धर्माविरुद्ध अपना ही रूप बतलाया है<sup>२</sup> साथ ही उसके धर्माविरुद्ध रूप की अत्यन्त निन्दा करते हुए मानव का सबसे बड़ा शत्रु बतलाया है।<sup>३</sup>

मनुस्मृति में काम के उदात्त रूप की प्रतिष्ठा हुई है। उसके अनुसार संसार के यावत् कर्म काम की ही चेष्टायें हैं और त्रिवर्ग के अन्तर्गत काम को सर्वाधिक श्रेयस्कर बतलाया है।<sup>४</sup> शिवपुराण के अनुसार 'सबकी उत्पत्ति काम से होती है और काम में ही सबका अध्यवसान होता है।<sup>५</sup> किन्तु शिवपुराण के अतिरिक्त अन्य पुराणों में काम के उदात्त स्वरूप के चित्रण का अभाव है। अन्य पुराणों में प्रायः वह वासना का प्रतीक देवता माना गया है और उसकी पत्नी का नाम रति स्थिर किया गया है। और इसी काम को शिव जी ने क्रोधित होकर जलाया था तथा यही काम ऋतुराज का भी सम्राट् हे तथा पुष्पों के धनुषबाण लेकर समग्र संसार को अपने वश में किए

१ महाभारत शान्ति पर्व २५।१-३

२ श्रीमद्भगवद्गीता ७।११

३ " ३।४३

४ मनुस्मृति २।४।२।१३४

५ शिवपुराण अध्याय ८

हुंए है । और तभी से इसके अनेक पर्यायवाची नाम हो गये हैं जैसे गूधु, गूत्स, कंदर्प, मधुदीप, और कुसुमायुध आदि ।

तैत्तरीय तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में काम का स्वरूप बड़ा उदात्त और व्यापक रखा गया है । तैत्तरीय उपनिषद् के अनुसार 'आनन्द से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है । आनन्द से ही उत्पन्न सभी वस्तुएं और प्राणी जीवित रहते हैं तथा आनन्द में ही लीन हो जाते हैं । आनन्द ही सर्वस्व है । १ और बृहदारण्यक उसे आनन्द का एकायन उपस्थ कहता है । २ इन उपनिषदों के अनुसार अन्य वस्तुएं आनन्द वृद्धि के ही लिये हैं । किन्तु स्त्री आदि सभी आनन्द के उपकरण हैं ।

'तान्त्रिक साधक दोनों ओष्ठों में से एक को शिव तथा दूसरे को शक्ति मानते हैं । जप करते समय ओष्ठों का हिलना ही मैथुन है । उससे निकलने वाला शब्द ही बिन्दु है । इससे उत्पन्न होने वाला देवता साधक के पुत्र के समान है ।

The two lips are Shive and Shakti. Their movement is coition (मैथुन) of the two, (शब्द) which issues herefrom is the nature of Vindu. The Devata thus produced is, as it were, the son of Sadhaka.

The Garland of letters, P. 210

Sir John Woodroffe.

१-आनन्दो ब्रम्हेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंवि-  
शस्तीति ॥ तैत्तरीय अनुवाक ६ ।

२-सर्वेषां आनन्दानामुपस्थ एकायनम् बृहदारण्यक, २, ४, ११ ।

महर्षि वात्स्यायन काम को सभी इन्द्रियों का अधिष्ठान एवं प्रयोक्ता मानते हुए कहते हैं :

श्रोत्रत्वंचक्षुर्जिह्वा घ्राणानामात्म संयोगेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः । स्पर्शविशेषविषये त्वस्याभिमानिक सुखानुविद्धा फल-वत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात् कामः ।<sup>१</sup> अर्थात् 'आत्मा से संयुक्त और मन द्वारा अधिष्ठित पांच ज्ञानेन्द्रियों के अपने अपने विषयों में अनुकूलतः जो प्रवृत्ति है, वह काम है । काम प्रधानतः स्पर्श में अभिमान से संयुक्त दुख से अनुविद्ध है, और उसका फल देखा जाता है ।'

### काम सम्बन्धी पाश्चात्य मत

ऊपर काम सम्बन्धी भारतीय मत पर संक्षेप में विचार किया गया है । अब हम इस सम्बन्ध के पाश्चात्य-मतों को भी संक्षेप में देखेंगे ।

पाश्चात्य विचारों में डा० फ्रायड ने सर्वाधिक काम शक्ति पर विचार किया है । इस बात पर प्रायः सभी विद्वान एकमत हैं कि एक अत्यन्त प्रबल शक्ति है जिसे हम मानसिक शक्ति की संज्ञा दे सकते हैं, जो हमें संसार में बिखरे हुए विपुल कार्यों को सम्पन्न करने की प्रेरणा देती है । डा० फ्रायड उस शक्ति को काम शक्ति अथवा 'लिबडो' कहते हैं । फ्रायड द्वारा प्रयुक्त इस 'लिबडो' शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है । डा० फ्रायड तथा पहले के

उनके दो प्रमुख तथा कट्टर शिष्य इस विषय में भिन्न-भिन्न स्थापनायें करते हैं। यद्यपि इन सबने 'लिबिडो' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु सभी का अर्थ भिन्न है। इस लिए सर्व प्रथम 'लिबिडो' शब्द की व्युत्पत्ति आवश्यक है। इस विषय में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक C. G. Jung का कहना है:

"The use of libido is very general ..... Etymological context of the word [1] libido or lubida [with libet more ancient lubet] it pleases me, [2] and libens or lubens = gladly, willingly, [3] Sanskrit, Lubhyati (लुभ्यति), to experience violent longing, [4] Lobhayati [लोभयति], excites longing [5] Lubhda [लुब्ध], Eager [उत्कण्ठा] [6] Lobha [लोभ], longing, eagerness, [7] Gothic = limps, and, [8] Old High German liob = love [प्रेम] Moreover in Gothic [9] lubains represented as hope [आशा], and [10] Old High German, loban to praise, [11] lob = commendation, praise, glory, [12] Old Bulgyrian, Gubili = to love, Gudy = love, [13] Lithnanian, lianpsinti = to praise (C. G. Jung The Psychology of Unconscous, p. 76)

सी० जी० जुङ्ग की 'लिबिडो' सम्बन्धी इस व्याख्या से पूर्ण स्पष्ट है कि सभी भाषाओं में प्रयुक्त इस शब्द के अर्थ में कोई भ्रम नहीं है। संस्कृत में उसके रूपान्तरों का अर्थ-तीव्र काम के वश होना, काम उत्पन्न करना उत्कण्ठा तथा लोभ आदि है। गौथिक भाषा में इसका अर्थ आशा तथा प्राचीन जर्मन में प्रेम, प्रशंसा करना, स्तुति करना तथा कीर्ति है। बलगेरियन भाषा में इसका अर्थ प्रेम और विचूनिन भाषा में प्रशंसा है।

उपर्युक्त 'लिबिडो' सम्बन्धी अर्थ व्युत्पत्ति का स्थूल रूप से समापन प्रेम और यश अथवा काम और कीर्ति के अर्थों में किया जा सकता है। काम की यह प्रवृत्ति स्त्री, धन यश सभी के लिए समान रूप से हो सकती है। अस्तु 'काम' का वास्तविक रूप क्या है बिना इसके समझे 'लिबिडो' का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा।

'काम' शब्द के उच्चारण से ही द्वैत स्पष्ट हो जाता है। इस द्वैत को हम विषय और विषयी के रूप में समझ सकते हैं : अर्थात् एक इच्छित वस्तु है तथा दूसरा उसकी इच्छा करने वाला है। निष्कर्ष यह कि बिना दो के काम की स्थिति सम्भव नहीं। अतएव 'काम' वह प्रवृत्ति है जो विषय और विषयी को एक साथ संयुक्त करती है। अस्तु, काम का स्वरूप यह स्थिर हुआ कि वह दो भिन्नताओं को मिलाने वाला बीच का सम्बन्ध है। १ डा० फ्रायड प्रारम्भ में सभी शक्तियों की प्रकृति का समाहार काम-शक्ति के अन्तर्गत करते थे। किन्तु बाद को गहन परिशीलन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आकर्षण मात्र 'काम' है। और वे जहाँ-जहाँ आकर्षण पाते थे वहाँ-वहाँ मैथुन-क्रिया और काम-शक्ति का अस्तित्व मानने लगे। इसलिए उनका 'मैथुन' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उनके द्वारा प्रतिष्ठित मैथुन शब्द के अन्तर्गत भ्रातृ-प्रेम, भगिनी-प्रेम गुरु भक्ति, देव भक्ति, पितृ-प्रेम, और मातृ-प्रेम सखा-प्रेम सखी-प्रेम आदि सभी आ जाते हैं। अतः 'लिबिडो' विश्व भर की क्रिया में अनुस्यूत 'काम-शक्ति' है। वह संकीर्ण स्त्री-पुरुष की काम-वासना से कहीं अधिक व्यापक है। फ्रायड द्वारा प्रतिष्ठित यह 'काम-सिद्धान्त' भारतवर्ष में भी प्रचीन काल में इसी रूप में प्रतिष्ठित था। जैसा कि हमारे एतद्विषयक ऊपर दिये हुए उद्धरणों से पूर्णतयः स्पष्ट है। किन्तु, कालान्तर में भारत और पश्चात्य देशों में इसका प्रयोग संकीर्ण अर्थ में होने लगा। काम शब्द के विषय में डा० फ्रायड का यह मत दृष्टव्य है :—

Libido is an expression taken from the Theory of the Emotions. We call by that name the energy of those instincts which have to do all that may be comprised under the word 'love'. The nucleus of what we mean by love naturally consists (and this is what commonly called love, and what the poets sing of) in sexual love with sexual union as its aim. But we do not separate from this—what in any case has a share in the name love—on the one hand, self love, and on the other, love for parents and children, friendship and love for humanity in general and also devotion to concrete objects and to abstract ideas. Our justification lies in the fact that psycho-analytic has taught us that all these tendencies are an expression of the same instinctive activities; in relation between the sexes these instincts force their way towards sexual union, but in other circumstances they are directed from this aim or are prevented from reaching it, though always preserving enough of their original nature to keep their identity recognizable (as in such features as the longing for proximity and self-sacrifice.)

We are of opinion then, that language has carried out an entirely justifiable piece of unification in creating the word 'love' with its numerousness and that

1—Thus the libido of our sexual instincts with the Eros of poets and philosophers, which holds together all living things.

—'Freud, Beyond the Pleasure Principle, P 64

we cannot do better than take it as the basis of our scientific discussions and expositions as well. By coming to this decision, psycho-analysis has let loose a storm of indignation, as though it had been guilty of an act of outrageous innovation. Yet psycho-analysis has done nothing original in taking love in this 'wider' sense. In its origin, function and relation to sexual love, the 'Eros' of the philosopher Plato coincides exactly with the love force, the libid., of psycho analysis, as has been shown by Nachmansohn x x x x psycho-analysis, than gives these love instincts the name of sexual instincts, a priori and by reason of their origin x x x x The Greek word 'Eros' is to soften the affront, is in the nothing more than a translation of our German word Liebe [love]. S. Freud. Group psychology and the Analysis of the Eros. P. P. 37,8-9,40)

अर्थात् 'लिविडो' शब्द 'संवेग-सिद्धान्त' से किया गया है। यह शब्द उस शक्ति के लिए प्रयोग में आता है, जो प्रेम शब्द से किसी प्रकार भी सम्बन्ध रखने वाली मूल-प्रवृत्तियों में अभिव्यक्त होती है। प्रेम का यदि कोई बीज या गर्भ है (जिसे सभी 'प्रेम' कहते हैं और कवि जिसके विषय में गाया करते हैं) तो वह मैथुन-प्रेम है, जिसका ध्येय संप्रयोग है। किन्तु, मैथुन-प्रेम में सभी प्रकार के 'प्रेम'-अर्थ रखने वाले विषय सन्निहित हैं। वे उससे किसी प्रकार पृथक् नहीं किये जा सकते, जैसे-स्वीय प्रेम और दूसरी ओर पितृ-मातृ-प्रेम, शिशु-प्रेम, मैत्री विश्व-प्रेम, वासनात्मक आसक्ति और भावनाओं के

प्रति श्रद्धाभाव आदि । इस प्रकार के प्रयोग के विषय में हमारा कथन यही है कि मनोविश्लेषण इन सभी प्रवृत्तियों को उसी (मैथुन वासना) वासना की अभिव्यक्तियों के समान सिद्ध करता है । स्त्री तथा पुरुष जाति के 'सम्बन्ध' में यह वासना संप्रयोग की ओर प्रवृत्त होती है और अन्य परिस्थितियों में उसी उद्देश्य से दूसरी ओर मोड़ी जाती है और संप्रयोग में परिणत होने से रोकी जाती है । किन्तु, उन परिवर्तित परिस्थितियों में भी यह वासना अपने प्रकृतःस्वभाव को यदि पूर्ण रूप से नहीं तो अंशतः ही बचाए रखती है और उसको पहिचाना जा सकता है ।

भाषा के अन्तर्गत यदि प्रेम शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ तो वह हमारे सिद्धान्त का ही समर्थन करता है । अस्तु, हम शास्त्र तथा वैज्ञानिक चर्चाओं के अन्तर्गत तथा सिद्धान्त-प्रतिपादनों में इसी को आधार-शिला के रूप में स्वीकार करते हैं । इस प्रकार के निष्कर्ष पर पहुँचने पर मनोविश्लेषण-शास्त्र भीषण क्रोध का भाजन बना । परन्तु इस रीति से 'प्रेम' शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग करने में हमने कोई नवीनता नहीं प्रदर्शित की । मैथुन-प्रेम के साथ संबद्ध रखने में उससे उत्पन्न होने में अपनी क्रियाओं में, सभी में यूनानी दार्शनिक 'प्लेटो' के 'एरास' शब्द से मनोविश्लेषण-शास्त्र का 'लिबिडो' शब्द मिलता-जुलता है । अतः उसके मूल कारण को दृष्टि में रख कर 'मनोविश्लेषण' प्रेम-वासनाओं को 'मैथुन-वासनाएँ' कहता है । यूनानी शब्द 'एरास' एक प्रकार से तत्त्व (जनता की) अवज्ञा अथवा अवमान को मृदु बनाने के लिये है । वास्तव में उसमें और जर्मन भाषा के 'लाइब' (प्रेम) में कोई अन्तर ही नहीं है ।'

डा० फ्रायड के ऊपर के उद्धरण से हम उनके 'लिबिडो'सम्बन्धी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वासनाओं अथवा मूल-प्रवृत्तियों का आयाम तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१)

घन-लिप्सा (२) दारैषणा और (३) लोकैषण । यदि हम इसे पुरानी कहावत के द्वारा स्पष्ट कहना चाहें तो कह सकते हैं कि मानव अपने जीवन को तीन कामनाओं में बांधे हुए हैं, ज़र, ज़मीन, ज़न । डा० फ्रायड के अनुसार इन तीनों अभिलाषाओं को केवल 'काम' में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है । उसका मत है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से ही सम्बद्ध होकर अन्य वासनाएँ स्फुटित होती हैं अर्थात् अन्य सभी आकर्षण मिथुन-जन्य हैं । इससे सिद्ध होता है कि आदि शक्ति का स्वरूप साथी की कामना है, और वह साथी स्त्री अथवा पुरुष होता है, और यही 'काम' का उत्कृष्ट स्वरूप है । अन्य वासनाएँ, जैसा कि हमने ऊपर कहा स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों से सम्बद्ध हैं । उदाहरणार्थ गार्हस्थ्य जीवन सुचारु रूप से चलाने के लिए घन की आवश्यकता है, अस्तु घन की कामना पारिवारिक जीवन से संबद्ध है । इसी प्रकार यश की कामना आदि प्रवृत्तियाँ ली जा सकती हैं । अतः डा० फ्रायड की स्थापना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'काम' विश्व की मूल-वासना है । डा० 'फ्रायड' के उपर्युक्त काम-सम्बन्धी मत से श्री शंकराचार्य का मत अद्भुत साम्य रखता है :

“एकाक्यासीत्पूर्वं मृगपति विषयानानुपूर्व्याऽन्तरात्मा ।

जाया मे स्यात्प्रजा वा धनमुपकरणं कर्म कुर्वन्तदर्थम् ॥

क्लेशैः प्राणावशेषैर्महदपि मनुते नान्यदस्माद्गरीयः ।

त्वे लाभे ऽप्य कृत्स्नो मृत इव विरमत्ये कहान्या ऽ कृतार्थः ॥

—शंकराचार्य शतश्लोकी । ३१ ।

अर्थात् अन्तरात्मा पहले एकाकी था । कुछ समय पश्चात् वह क्रमशः विषयों का अन्वेषण करने लगा, यथा मेरे स्त्री हो, पुत्र हो और उनके पालन-पोषण (संरक्षा) के लिए धन हो । उन्हीं के हेतु अपने प्राणों की चिन्ता न करके वह अनेक श्रमों में प्रवृत्त हुआ । और उनसे बढ़कर अन्य किसी वस्तु को श्रेष्ठता नहीं प्रदान की । और यदि इनमें से

एक भी वस्तु का अभाव हुआ तो अपने जीवन को अपूर्ण मानने लगा । उनमें से एक के भी नष्ट होने पर अपने को अकृतार्थ मानने लगा ।’

काम-सम्बन्धी उद्युक्त प्राच्य तथा पाश्चात्य विवेचनों से हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, उनका समापन इस प्रकार किया जा सकता है: (१) काम एक सार्वभौम और सर्वकालिक शक्ति हैं ।

(२) मिथुन-भावना में इसका मूल स्रोत परिलक्षित होता है ।

(३) आदि काल में इसकी प्रतिष्ठा अत्यन्त व्यापक धरातल पर की गई थी, किन्तु कालान्तर में अर्थ-संकोच होकर यह केवल यौन सम्बन्धों तक ही सीमित रह गया ।

स्त्री की प्राप्ति की इच्छा के साथ ही मानव का सांसारिक अभिलाषाओं का आयाम बढ़ता जाता है ; अर्थात् वैवाहिक जीवन के प्रारम्भ से ही पुत्रैषणा, कीर्त लोलुपता, विरोषणा आदि का प्रसार होता है । मानव जितने विषयों और प्राणियों में अपने को अ॒बद्ध करता है, वही उसका संसार बन जाते हैं । और ये समग्र बन्धन वह आनन्द की प्राप्ति के लिए स्वीकार करता है — वास्तव में वह अपने मन को सांसारिकता में नियोजित करता हुआ उसे विस्तार नहीं देता, सीमित बनाता है, यद्यपि वह समझता इसके विपरीत है । किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो आनन्द का वास्तविक उद्रेक ‘काम’ की तृप्ति में नहीं, निष्काम होने में है । मिथुनी भाव में नहीं अमिथुनी भाव में है । अंग्रेजी के कवि शिलर ने ठीक ही कहा है:

काल की गति पर

जब तक उदात्त भाव-

दर्शन एकाधिपत्य

राज्य नहीं करता,

तब तक यह विश्व अति--

प्राचीन रीति में  
क्षुधा काम वृत्ति से  
बढ़ता ही जायगा <sup>१</sup>

अर्थात् जब तक उदात्त दार्शनिक दृष्टि काल-क्रमको भली प्रकार अपने आवेष्टन में नहीं लेती तब तक संसारिक जीवन प्राकृतिक प्राचीनतम मार्ग के अनुसार क्षुधा और काम से संचालित होता रहेगा ।

क्रोध, लोभ, मोह आदि संवेग काम के ही विवर्त हैं, इसलिए, इनका विवेचन पृथक् से नहीं किया जा रहा है । 'काम' के निरुद्ध, हो जाने पर उपर्युक्त किसी न किसी संवेग का जन्म होता है । गीता में भगवान् कृष्ण ने इस तथ्य का प्रतिपादन कितने सुन्दर ढंग से किया है: 'संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते.....।' अर्थात् संग से काम की उत्पत्ति होती है और काम से क्रोध उत्पन्न होता है ।<sup>१</sup> अर्थात् काम की संतुष्टि में यदि बाधा डाली जाय तो वह क्रोध बन जायगा और संसार में पूर्ण तृप्ति असंभव ही है, इसलिए क्रोध का होना भी अनिवार्य ही है ।

इसी प्रकार आकृष्य वस्तु से आकर्षित होकर उसकी प्राप्ति के आर्कषण को हम लोभ की सज्ञा देते हैं । इसके मूल में भी 'काम' भाव ही है, क्योंकि हम उस वस्तु की प्राप्ति के आनन्द में प्रलुब्ध होते हैं । और 'आनन्द' की इस भावना के मूल में 'काम' भाव अनुस्यूत है । इसी प्रकार अधिक संपर्क से 'मोह' भाव की उत्पत्ति होती है । संपर्क अथवा 'मिथुनीभाव' वास्तव में काम ही है ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भावों के विवेचन के पश्चात् अब हम 'अहंकार' के स्वरूप और व्याप्ति पर विचार करेंगे । क्योंकि सन्तों ने भी अन्य भावों के अतिरिक्त इन्हीं दोनों भावों पर अधिक प्रकर्ष दिया है ।

सांख्य दर्शन के अनुसार अभिमान ही अहंकार है । यह अभिमान चिरस्थायी अथवा शाश्वत नहीं है वरन् विषय के साथ व्यक्ति का नैकट्य होने पर विषय और अहंता का साथ ही बोध होता है । विषय को अहंकार ही देखता है अर्थात् अहंकार के ही कारण विषय की अवस्थिति का ज्ञान होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि दृश्य को अहंकार के कारण ही देखा जा सकता है । इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर ज्ञाता को जो ज्ञातृत्व अभिमान होता है, सांख्य के अनुसार वही अहंकार है । इसी अहंकार की परितुष्टि के लिए वृद्ध, युवा, शिशु, किशोर और वनिता अनेक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं । अहंकार ही समग्र संसार की क्रिया-शक्ति है । योग-वाशिष्ठ कार ने ठीक ही कहा है:

जानुस्तम्भेन महता धार्यते स तस्यैव ।

अहंकारेण देहो यं तथैव किलधार्यते ॥

अहंकार क्षये देहं किलावश्यं विनश्यति ।

मूलेक्रमच संलूने सुमहानिव पादपः ॥ १

अर्थात् महान वृक्ष जिस प्रकार अपने तने के कारण खड़ा होता है, उसी प्रकार अहंकार देह को धारण करता है । मूल को आरे से काटने पर जिस प्रकार वृक्ष गिर पड़ता है, उसी प्रकार अहंकार के नाश से शरीर विनष्ट हो जाता है । अहंकार द्वारा प्रेरित मन संसार के सभी कार्यों को करने में प्रवृत्त होता है । अहंकार के ही कारण वह सक्षम तथा क्रियाशील है, अन्यथा वह विलकुल पंगु है । योगवाशिष्ठ ने इसीलिए मन को 'जड़' की संज्ञा दी है:

मनश्चैवं जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत् ।

क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यतेबुद्धि निश्चयैः ॥

बुद्धि-निश्चय-रूपैवं, जड़ा सत्त्व निश्चयः ।

खातेनेव सरिन्नून साहंकारेण बाह्यते ॥१

अर्थात् संकल्पात्मक शक्ति जो मन है, वह भी जड़ है, क्योंकि वह फँके गए निश्चयों द्वारा पत्थर के समान प्रेरित होता है । बुद्धि निश्चय रूप से सत्ता की जड़ ही है । जिस प्रकार गड्ढे के अनुसार नदी का प्रवाह होता है, उसी प्रकार अहंकार के अनुसार बुद्धि प्रवाहित होती है । अर्थात् जिस प्रकार ढालू जमीन अथवा खाई नदी के प्रवाह को निश्चित करती है, उसी प्रसार बुद्धि के द्वारा समग्र संकल्पों का निश्चय किया जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि अहंकार बुद्धि और मन दोनों को गति प्रदान करता है, इसलिये वह दोनों का अधिष्ठान अथवा स्वामी है ।

अस्तु, अहंकार चित्त की वह वृत्ति है, जो चित्त को संसार के विषयों से आबद्ध किए हुए हैं । जब तक उन विषयों से चित्त की विमुक्ति नहीं होती, तब तक अहंकार का क्षय नहीं हो सकता और जब तक अहंकार नष्ट नहीं होता, विषय जन्मान्तर को भी विनष्ट कर देते हैं । योगवासिष्ठ का इस विषय में स्पष्ट मत है :

विषं विषय वैषम्यं न विषं विषमुच्यते ।

जन्मान्तरध्ना विषया एक देहहरम् विषम् ॥२

अर्थात् विषय जन्मान्तरों को बिगाड़ देते हैं, किन्तु विष तो एक ही देह को । अस्तु, वास्तव में विष, विष नहीं है, विषय वैषम्य ही विष है । इससे यह सिद्ध हुआ कि विषय-वैषम्य के कारण ही व्यक्ति 'अहंकार' के आवेष्टन में चिरकाल तक ही घिरा रहता है । और

१ वही, निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्द्ध, सर्ग ७८, २०-२१

२ योगवासिष्ठ, वैराग्य प्रकरण, सर्ग १६, श्लोक १३

‘अहंकार’ पर विजय प्राप्त करने के लिए विषय की साम्यावस्था अतिशय रूप से अभिप्रेत है। विषयों की समता के लिए जीवन में सन्तुलन परमावश्यक है। असंतुलित जीवन में विषय भी विषम हो जाते हैं और उनके विषम होते ही ‘अहंकार’ का प्रबल रूप स्फुरित होता है, जो अन्य विषयों को जन्म देता है और फिर यह तारतम्य टूटता ही नहीं और फलस्वरूप मानव के हर्ष-विषाद का भी ओर-छोर नहीं मिलता। और हर्ष-विषाद के द्वन्द्वात्मक वलय को बिना तोड़े मानव का चिर अभीप्सित परमानन्द नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि परमानन्द का स्वरूप समता है, विषमता में वह कैसे प्राप्त होगा।

ऊपर के विवेचन में हमने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का रूप स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हमने ऊपर यह भी कहा है कि सन्तों ने इन पाँचों को विशेष रूप से अपनी साधना के मार्ग में अन्तराय के रूप में स्वीकार किया है। अस्तु, अब हम इन अन्तरायों के स्वरूप-निर्धारण के पश्चात्, एतद्विषयक् सन्तों के उद्धरणों द्वारा उनके अभिमत को जानने की चेष्टा करेंगे।

सन्तों ने भी काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के स्वरूप को पहिचाना था। उन्होंने इन विकारों को अध्यात्म को चोर कहा है। उनकी धारणा है कि जब तक मनुष्य (साधक) इन विकारों पर विजय नहीं प्राप्त कर लेता उसे साधना में सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। उन्होंने काम के स्वरूप को मिथुनीभाव में ही स्थिर किया है। काम के व्यापक रूप को कदाचित् उन्होंने माया के रूपक के अन्तर्गत रखा है। अपनी साधना के अन्तरायों में उन्होंने लोभ और काम (कंचन और कामिनी) को सर्वाधिक मान्यता प्रदान की है। सन्तों में शीर्षस्थ कबीर ने ‘माया महा ठगिनि मैं जानी’ कहकर काम के व्यापक स्वरूप के महत्व को स्वीकार किया है। इस

पद के अन्तर्गत उन्होंने माया के रूपक द्वारा काम के दोनों स्वरूपों के प्रभाव का भयावह चित्रण किया है। इस पद में काम, कामना और मिथुनी भाव में चित्रित होकर उनकी साधना का सबसे महान अन्तराय बन गया है। 'काम' के इस समग्र रूप पर विजय साधक की अपने वश की बात नहीं है। इससे रक्षा के हेतु प्रभु के चरणों में पूर्ण समर्पण अत्यावश्यक है। काम का सबसे बड़ा अधिष्ठान नारी है। यह बहुश्रुत है कि कबीर ने लोई नामक एक स्त्री से विवाह किया था। उससे कमाल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था। किन्तु, साधना में बाधक होने के कारण उन्होंने उसे सदा के लिए छोड़ दिया था। उन्होंने स्वयं ही कहा है 'जबसे जाना परिहरी, नारी दुख की खान'।

अन्य सन्तों ने काम को व्यापक रूपक में न लेकर मिथुनी-भाव के रूप में ही स्वीकार किया है। सन्त चरनदास ने भी अपनी काम सम्बन्धी मान्यता मिथुनी-भाव के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए पर-स्त्री गमन अथवा पर पुरुष-गमन को सर्वाधिक पाप-कर्म के रूप में स्वीकार किया है। उनके मत से काम-वासना इतनी अधिक बुरी है कि इससे प्रभु और सद्गुरु दोनों का नैकट्य नहीं प्राप्त होता तथा यह तन-मन दोनों को दग्ध कर देती हैं। इसके प्रभाव में मनुष्य उन्मत्त सा व्यवहार करता है तथा यह संसार में उसकी प्रतिष्ठा को भी नष्ट करने वाली है :

‘यह काम बुरा रे भाई, सब देवे तन बीराई ।

पञ्चों में नाक कटावे, वह जूती मार दिलावे ।

मुँह काला गधे चढावे, बहु लोग तमासे आवैं ।

\*

\*

\*

कोइ नोके मुँह नहिं बोलै, सरमिन्दा हो जग डोलै ।

वह जीवित नरक मंझारी, सुन चेतौ नर अरु नारी ।

दोहा—तन-मन जारै काम हीं, चित कर डौवा डोल । १

धरम सरम सब खोय के, रहै आप हिय खोल ॥

इसके अतिरिक्त काम का विशिष्ट रूप पर-स्त्री गमन तो और भी अधिक भयंकर है क्योंकि वह अपनी अन्य भयंकरताओं के साथ 'हरि-गुरु' का साथ भी छुड़वा देता है :

अरे नर पर नारी मत तक रे ।

जिन जिन ओर तको डायन सी, बहुतन कूँ गई भख रे ।

दूध आक को पात कटैया, झाल अगिन की जानो ।

सिंह मुछारे विष कारे को, ऐसे ताहि पिछानो ।

खानि नरक की अति दुख दाई, चौरासी भरमावै ।

जनम-जनम कूँ दाग लगावै, हरि गुरु तुरत छुटावै ।

जग में फिरि-फिरि महिमा खोवै, राखै तन मन मैला ।

चरन दास सुकदेव चितावै, मुमिरो राम सुहैला । २

सन्त चरनदास के अतिरिक्त सन्त दरिया साहब, बिहार वाले ने भी 'कामिनि-कनक' को साधना का सबसे बड़ा अन्तराय स्वीकार किया है:

'ए दुइ चक्र भरमते लोका, कामिनि कनक महा बड़ सोका ।

उभय त्याग समरथ है दूजा, ताको चरन कमल का पूजा ।

तेजि कंदर्प कामिनि नहि साथ्या, सुमिरि नाम निजु होहि सनाथा । ३

संत दरिया साहब के अनुसार सारा जगत 'कामिनी-कंचन' के अन्तर्गत भूमित हो रहा है और इसके परिणामस्वरूप वह अत्यन्त शोक का भागी बना हुआ है । यदि शोक से विमुक्त होना चाहते हो

१ चरनदास की बानी पृष्ठ २० वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।

२ " " " " " "

३ दरिया साहब की बानी पृष्ठ ५६ " "

तो कामिनी रूपी कंदर्प को छोड़ कर प्रभु का स्मरण करो तभी कृत कृत्य हो सकते हो ।

सन्त यारी साहब ने भी साधक को कामवासना से सचेत रहने का आदेश देते हुए कहा है, 'सीन-सचेत जो आवै काम ।' १

महात्मा चरनदास ने क्रोध को भी साधक की साधना में भीषण-बाधा के रूप में स्वीकार किया है । वे उसे 'चंडाल' की संज्ञा देते हैं और उसके आवेश को प्रतिष्ठा और बुद्धि को नष्ट करने वाला समझते हैं । उसी के द्वारा हिंसा होती है। वही गुरु की आज्ञा नहीं मानने देता और वही प्रभु से 'नेह' छुड़ा देता है :

क्रोध महा चन्डाल है जानत यह सब कोय ।

ताके अंग वरनन करूं, सुनियो सुरत समय ॥

जेहि घट आवै धूम से, करै बहुत ही खवार ।

पति खोवै बुधि कूं हने, कहा पुरुष कह नार ॥

चौपाई

वह बुद्धि भ्रष्ट करि डारै । वह मारहि मार पुकारै ।

वह सब तन हिंसा छावै । कहि दया न रहने पावै ॥

वह गुरु सूं बोलै बेड़ा । साधों सूं डोलै ऐंड़ा ॥

वह हरि सूं नेह छुटावै । वह नरक मांहि ले जावै ॥

वह आतम घाती जानौ । वह महामूढ़ पहिचानौ ॥

सोटों की मार दिलावै । कबहूँ कै सीस कटावै ॥२

उन्होंने 'मोह' को साधना का तृतीय अन्तराय स्थिर किया है । वे कहते हैं कि मोह आन्तरिक रूप से दुख देने वाला है, इसलिए उसे अपने हृदय से मार कर निकाल दो । और इसका 'निर्वास' तभी हो सकता है, जब व्यक्ति संसार से अपनी अनुरक्ति छोड़ दे । संसार से

१-यारी साहब की बानी पृष्ठ १० वेलवेडियर प्रेस प्रयाग

२-चरनदास की बानी, पृष्ठ २१ वेलवेडियर प्रेस प्रयाग

कमल-पत्रवत्, अनासक्त रहना चाहिए अथवा मुख में जिह्वा के समान रहना चाहिए। जिह्वा 'घना घीव' खाने के बावजूद भी चिकनी नहीं होती। मोह का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह जिसे अपने आवेष्टन में लेता है, कभी छूटता नहीं, चाहे वह 'बोराय' क्यों न जाय। मोह का आवास कूटुम्ब, मित्र, कुल-गोत्र के माध्यम से सारे जग को घेरे हुए हैं:

मोह बड़ा दुख रूप है, ताकूँ मारि निकास।  
 प्रीत जगत का छोड़ दे, जब होवे निर्वीस ॥  
 जग मांही ऐसे रहो, ज्यों अंबुज सर माहि।  
 रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहि ॥  
 जग मांहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहि।  
 घीव घना भच्छन करै, तो भी चिक्कन नाहि ॥

\* \* \*

मोह बली सबसूँ अधिक, महिमा कहि ना जाय।  
 जाकूँ बाँधो जग सबै, छूटै ना बोराय ॥  
 स्वारथ ही के सब सगे, कुटुम्ब मित्र कुल गोत।  
 परमारथ समझावहीं, जो दयाल गुरु होत ॥ १

साधना का चौथा अन्तराय 'लोभ' है। लोभ को सन्त चरण-दास ने 'नीच' की संज्ञा दी है। वह पाप का आगार है। उसका मन्त्री 'झूठ' है, जो अत्यन्त 'अधर्मी' है। तृष्णा उसकी पत्नी है, जो उसे अन्धा बना देती है। उसके कारण (अन्धा होने के कारण) उसे अभाव वृद्धि का ज्ञान नहीं होता और न काल का ही भेद दृष्टि गोचर होता है। दंभ रूपी मकर और 'छल' लोभ के साथ रहते हैं। ये

दोनों जीवन काल में तो हैरान रहते ही हैं, मरने के बाद नरक में ले जाते हैं। यह स्वधर्म से विरक्त करके अन्य धर्म में नियोजित करते हैं तथा अनेक प्रलोभनों में डाल कर हरि तथा गुरु से 'विमुख कर देते हैं।'

“लोभ नीच वर्णन करूँ, महा पाप की खानि।

मन्त्री जा का झूठ है, बहुत अधर्मी जानि॥

तूस्ना जा की जोय है, सो अन्धा करि देय।

घटी बढ़ी सूझै नहीं, नहीं काल का भेय॥

दंभ मकर छल भगल जो, रहत लोभ के संग।

मुए नरक ले जायँगे, जीवत करै अतंग॥

देहैं धर्म छोड़ाय हो, आन धर्म ले जाय।

हरि गुरु ते बेमुख करै, लालच लोभ लगाय॥२

सन्तों ने साधना के पाचमें अन्तराय 'अहंकार' को सांख्य के अनुसार (विषयी का विषय के सम्पर्क से उत्पन्न भाव) ही लिया है। उन्होंने उसके व्यापक रूप को भी स्वीकार किया है। किन्तु, उनकी यह मान्यता व्यष्टि के वर्णन से उसके समष्टि रूप का वर्णन करती है। सन्त 'चरनदास' ने रूप, यौवन, धन, कुल, विद्या, ऐश्वर्य, आदि में 'अहंकार' के स्वरूप को देखा है। इस अहंकार के कारण मनुष्य विनम्र नहीं बन पाता, उसे 'नान्हापन' का अनुभव नहीं हो पाता : और इसी कारण वह आध्यात्मिक उपलब्धियों से बहुत दूर हो जाता है:

“रूपवन्त गरबावै कोह सो सम दृष्टि न आवै ॥

तरुनापा गर्बाना, वह अंधरा होवै राना ॥

कहै घन मद में परबीना, सब मेरे ही आधीना ॥

कहै कुल अभिमानी सूचा, मैं सब जातिन में ऊँचा ॥

वह विद्या गर्ब जो भारी, करै बाद--विवाद अनारी ॥

अरु भूप करै अभिमाना, उन आपै हीं कूँ जाना ॥१

जब तक ये पाँचों 'भूत' साधक के सिर से उतर नहीं जाते तब तक वह 'अरूप ब्रह्म' नहीं हो सकता और न वह परमानन्द पद को प्राप्त कर सकता है, जहाँ पर मुक्ति साकार हो रही है :

'पाँचो उतरै भूत जब, ह्वै ही ब्रह्म अरूप ।

आनन्द पद को पाइही, जित है मुक्ति स्वरूप ॥३

अन्य सन्तों ने इन अन्तरायों को सन्त चरनदास के समान प्रायः प्रथक् रूप में क्रम बद्ध रूप में नहीं लिया । किसी ने उन्हें माया के विग्रह के रूप में स्वीकार किया है तो किसी ने आनुषंगिक रूप से उनका नामोल्लेख कर दिया है । सन्त पलटू साहिब ने 'कनक-कामिनी' को माया के विग्रह के रूप में चित्रित किया है, जो साधना के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं:

'कहूँ कनक कहूँ कामिनि, सुन्दर भेष बनावै ।

ताकै जेकरी ओर नजर से मारि गिरावै ॥

जोगी जती औ तपी गुफा से पकरि मँगावै ।

बचै न कोऊ भागि दुपहरै लूटा जावै ॥३

काम, क्रोध, मद, लोभ, माया रूपी चक्की के पीसने वाले हैं और सत्व, रज और तम, तीनों गुण उस मायारूपी चक्की में मुट्ठी

१ चरनदास की बानी पृष्ठ २४

बही

२ चरनदास की बानी पृष्ठ २५

बही

३ पलटू साहिब की बानी पृष्ठ ७२

बही

में भरकर अनाज के समान डाले जाते हैं। चतुर 'कुमति' रोटी बनाती है। वह रोटी कर्म रूखी तवा में सेंकी जाती है। व्यभिचारिणी तूष्णा ने सभी को कुपथगामी बना दिया है और इस प्रकार एक दिन 'काल' ने सबका नेवला' बना डाला। इस सुन्दर रूपक के अन्तर्गत सन्त पलटू ने साधना के सभी अस्तरायों पर एक साथ प्रकाश डाला है:

माया की चक्की चलै पीसि गया संसार ॥  
 पीसि गया संसार बचै न लाख बचावै ॥  
 दोऊ पट के बीच कोऊ न साबित जावै ॥  
 काम—क्रोध मद—लोभ चक्की के पीसन हारे ।  
 तिरगुन डारै झीक, पकरि कै सबै निकारै ॥  
 दुरमति बड़ी सयानि, सानि कै रोटी पोवै ।  
 करम तवा में धारि सेंकि कै साबित होवै ॥  
 तृस्ना बड़ी छिनारि जाइ उन सब घर घाला ।  
 काल बड़ा बरियार, किया उन एक निवाला ॥१॥

“भजन करना बड़ा कठिन कर्म है। क्योंकि भजन करने के मार्ग में अनेक बाधायें हैं। मोही मोह के वशीभूत होकर इसे नहीं कर पाते और क्रोधी-अहंकार में पड़कर साधना करना भूल जाते हैं। कामी कामाग्नि में प्रतप्त होकर भूल जाते हैं तथा लोभी धन संग्रह करते हुए पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। योगी अपनी योग-युक्ति के तथा पण्डित 'पुरान' (विद्वता) के अभिमान में उसे विस्मृत कर देते हैं। मुक्त वही होगा, जो अष्ट याम नाम का स्मरण करता है।” सन्त दूलनदास ने अपने एक ही पद में साधना के सभी बाधक तत्त्वों को रख दिया है :

“भजन करना है करी काम ॥

मोही भूले मोह के बस में, क्रोधी भूले पड़ि हंकार ॥१॥

कामी भूले काम अगिन में, लोभी भूले जोरत दाम ॥२॥

जोगी भूले जोग जुगत में, पण्डित भूले पढ़त पुरान ॥३॥

दूलनदास ओही जन तरिगे, आठ पहर जिन मुमिरा नाम ॥४॥” १

सन्त धरनीदास भी ‘काम’ और क्रोध को निर्वाण पद प्राप्ति में बाधक मान कर उन्हें वश में करने के लिये कहते हैं :

“चारि दिन सुख कारने, नर भुलो सकल सयान ।

काम-क्रोधहि कैद करिके, परसु पद निर्वान ॥” २

साधना के उपर्युक्त अन्तरायों काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भयंकर अन्तरायों को ज्ञान के बाण से मारने की सलाह सन्त केशव दास जी भी निम्नलिखित शब्दों में देते हैं :

‘आदि को सोधि कै मद्ध को बाँधि कै,

अन्त को छेदि रन सूर जीता ॥

काम अरु क्रोध को लोभ अरु मोह को,

ज्ञान के बान सों मारि लीता ।

जानि जन केसवा मानि मन में रहा,

यारी सतगुरु मिला भेद दीता ।” ३

काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार (आपा) पर जो विजय प्राप्त कर लेता है, सन्त केशवदास उसी को ‘सन्त’ की संज्ञा देते हैं :

सोई निज सन्त जिन अन्त आपा लियो,

जियो जुग-जुग गगन बुद्धि जागी ।

१—दूलनदास की बानी पृष्ठ २५ वही

२—धरनीदास ,, ,, ,, ३६ ,,

३—केशवदास जी की अमीघूढ़ ,, ८ ,,

प्राण-आपान असमान में धिर भया;  
 सुप्त के सिखर में जिकिर लागी ॥  
 रहत घर बास बिनु स्वास का जीव है;  
 सक्ति मिलि सीव सों सुरति पागी ।  
 अकह आलेख आदेख को देखिया;  
 पेखि कैसो भयो ब्रह्म रागी ।”१

अर्थात् जिस साधक ने काम, क्रोध, अहंकारादि पर विजय नहीं प्राप्त की वह ‘अकह’, ‘आलेख’ और ‘आदेख’ को देख कर ब्राह्मी-स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता।

ऊपर के समग्र विवेचन से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, उसका सारांश संक्षेप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है :

- (१) काम, क्रोध, मद, लोभ के स्वरूप का निर्णय तथा इन संवेगों का मानव-मन पर प्रभाव सहस्रों वर्षों से उदात्त-वृत्तियों के अन्तराय के रूप में समझा जाता रहा है। उपनिषद, पुराणादि आर्ष ग्रन्थ इसके प्रमाण स्वरूप रखे जा सकते हैं।
- (२) पाश्चात्य विचारकों ने भी इनके स्वरूप का निर्धारण करके इनके प्रभाव को स्वीकार किया है। इन विचारकों में ‘फ्रायड’ अग्रगण्य है।
- (३) अधिकांश सन्तों ने भी इनके स्वरूप का निर्धारण किया है, किन्तु जिन्होंने इनकी वैज्ञानिक रूप से स्वरूप-प्रतिष्ठा नहीं की उन्होंने भी इनके भयंकर प्रभाव को नतशिर होकर स्वीकार किया है।

- (४) सन्तों की यह स्थापना है कि वही व्यक्ति इन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकता है, जो सर्वतो भावेन गुरु और ईश्वर को आत्म-समर्पण कर देता है ।
- (५) सन्तों ने इन अन्तरायों की बहु प्रचलित संज्ञाओं 'काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार' के अतिरिक्त कभी इनके लिये केवल एक शब्द 'माया' का ही प्रयोग किया है और कहीं अहंकार के लिये 'आपा' शब्द का प्रयोग किया है ।

हम इस विवेचना का उपसंहार इन शब्दों द्वारा करते हैं कि वास्तव में सभी अन्तराय आध्यात्मिक-साधना के मार्ग में अतिशय रूप से बाधक तो हैं ही जीवन भी चतुर्मुखी उन्नति के भी समान रूप से अवरोधक हैं । इस प्रकार ये हमारे अम्युदय और निःश्रेयस को अपने आवेष्टन में दृढ़ता के साथ आबद्ध किए हुए हैं । ये हमारे जीवन में इतनी सूक्ष्मता से प्रविष्ट हैं कि इनसे मुक्ति प्राप्त करना अपने वश की बात नहीं । सन्तों ने इसीलिये सद्गुरु की शरण में जाने का आदेश दिया है, जिसकी महती अनुकम्पा से ही इनसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है, और अपने स्वरूप के अभिज्ञान का द्वार खुल सकता है ।

---

# संत-मत में प्रतीक और रूपक योजना

किसी भी काव्य में प्रतीक और रूपक का प्रयोग और उसकी गम्भीरता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का द्योतक है। इसके अतिरिक्त कविता में इन प्रयोगों द्वारा कलात्मकता भी निखर उठती है। कुछ विद्वानों का मत है कि कला का विकास 'विचित्र-भङ्गी भणिति' में ही सर्वाधिक हो सकता है। प्रतीक और रूपक के माध्यम से काव्याभिव्यक्तियों का स्वरूप सर्वाधिक विचित्र-भङ्गिमा के अन्तर्गत आता है। किन्तु, हमारा विचार है कि कला-सम्बन्धी इस प्रकार की उपपत्तियाँ साहित्याचार्यों द्वारा बहुत बाद को प्रतिष्ठित हुईं। भारतवर्ष में तो आर्यों के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में भी अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में प्रतीक और-रूपक योजना के उदाहरण प्राप्त होते हैं। अन्य वेदों के अन्तर्गत भी प्रतीक और रूपकों की योजना प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। इन प्रतीकों और रूपकों के अर्थ और मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए समय-समय पर अनेक निरुक्तों की रचनाएँ हुईं। दुर्भाग्यवश इन निरुक्तों में से यास्क रचित निरुक्त ही प्राप्त होता है। निरुक्तों के अतिरिक्त इन प्रतीकों और रूपकों का आध्यात्मिक अर्थ अन्य कोषों के द्वारा नहीं स्पष्ट होता। अतएव, प्रतीक और रूपक योजना के विषय में हमारी यह धारणा है कि इनका प्रयोग रहस्यवादी अनुभूतियों के लिए होता था। या फिर इतिहास अथवा आख्यान और प्रतीकार्थ, भाव के रोचक तथा यथार्थ के ठोस रूप को एक

साथ अभिव्यक्ति देने के लिए होता था, तथा समग्र वाङ्मय चाहे वह कला हो, चाहे साहित्य और चाहे दर्शन का स्वर-अन्तर्मुखी है और इसीलिए कदाचित् रहस्यवादी। साहित्य में वेद, उपनिषद् और पुराणों की अधिकांश अभिव्यक्तियों में इतिहास की अपेक्षा अनुभवपरकता पर अधिक प्रकाश दिया गया है, इसीलिए वे रहस्यवादी और अन्तर्मुखी हैं। हमारे सभी आस्तिक दर्शनों में अन्तर्मुखी वृत्ति में रहस्य भावना तो है ही नास्तिक दर्शन जिनकी मुख्य भूमि तर्क और ज्ञानाश्रित हैं रहस्य से अछूते नहीं रह सके। पुराणों तो अपने रूपों और प्रतीकों के लिए प्रसिद्ध ही हैं। भारतीय कला की प्रतीक योजना के लिए तो केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त है कि प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान और कलाविद् श्री आनन्द कुमार स्वामी ने भारतीय कला के अध्ययन से भारतीय दर्शन का अध्ययन किया था। इस स्थल पर भारतीय कला की प्रतीकात्मकता का एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। यह उदाहरण हम रायकृष्ण दास द्वारा प्रणीत 'अजन्ता के चित्रकूट' नामक पुस्तक से दे रहे हैं। यह उदाहरण बोधसत्त्व गौतम बुद्ध के एक भित्ति चित्र का है। इस चित्र की भावाभिव्यक्ति पर प्रकाश डालता हुआ लेखक कहता है, "यहां बोधसत्त्व की लिखाई में हमें चित्रकार ने इस असीम विश्व कक्षा को बड़े सामर्थ्य से स्फुट दिया है, जो बोधसत्त्व का स्वभाव मानी जाती है। इनकी भाव-मग्न आँखें, जैसे किसी ऊँचाई (स्वर्ग) से देखने के कारण नीचे की ओर झुकी हैं, मानो सारे संसार की व्यथा को देख, उसे दूर करने के लिए उत्सुक हैं। \* इसी प्रकार कला की अन्य अभिव्यक्तियों के उदाहरण रखे जा सकते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है हमारे देश के विचार अथवा अनुभूति-अभिव्यक्तियों के सभी प्रकार अन्तर्मुखी होने के कारण रहस्यवादी हैं।

---

\* अजन्ता के चित्रकूट, लेखक रायकृष्ण दास, आनन्द कृष्ण पृ० १६

इमें इसका एक-मात्र कारण यह प्रतीत होता है कि हमारे देश की प्रवृत्ति मुख्य रूपसे आत्मान्वेषी है। अप्राप्त की प्राप्ति ही सर्वोत्कृष्ट कला है, सर्वोत्कृष्ट दर्शन है और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान और भक्ति है। और इसी-लिए हमारी भाषा प्रतीकात्मक और रूपक प्रधान होती गई है। यह धारा बौद्ध-तन्त्रों से होती हुई सिद्ध-साहित्य और फिर सन्त-साहित्य में अव्याहत गति से प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। इस स्थल पर हम सन्तों के प्रतीकों और रूपकों को प्रधान रूप से और अन्यो को गौण रूप में लेंगे।

### प्रतीक परिभाषा और स्पष्टीकरण

सर्व प्रथम हम प्रतीक योजना को लेंगे। प्रश्न उठता है, प्रतीक शब्द का क्या अर्थ है अथवा स्वरूप है। काव्यान्तर्गत अथवा अन्य कलाओं में प्रतीकों का अभिव्यंजन स्थूल के चित्रण के माध्यम से सूक्ष्म को अभिव्यक्ति देने के लिए होता है। संक्षेप में हम प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं प्रतीक-योजना का वाह्य स्वरूप तो स्थूल होता है, किन्तु लेखक, कवि अथवा अन्य कलाविद का जो मन्तव्य होता है, उसका स्वरूप स्थूल से भिन्न सूक्ष्म होता है। हिन्दी साहित्य कोश \* के पृष्ठ ४७१ में प्रतीक का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, “प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है, जो कि अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषयक वस्तु-विधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर को समान रूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रति-विधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है, जैसे अदृश्य

---

\* हिन्दी-साहित्यकोश, सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि।

या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है ।”

उपर्युक्त उद्धरण से भी हमारी परिभाषा की पुष्टि होती है । निष्कर्ष यह निकला कि स्थूल प्रतीक द्वारा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति प्रतीक योजना है । वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों के पश्चात् सिद्धों ने भी प्रतीकों का आश्रय लिया । तान्त्रिक युग में इस प्रतीक-योजना को एक पृथक् भाषा की ही संज्ञा दी गई है—संधा-भाषा । हम इस स्थल पर इस विस्तार में नहीं जायेंगे कि यह भाषा ‘संधा-भाषा’ के नाम से अभिहित होनी चाहिए या ‘संध्या-भाषा’ के । इस विवाद में विद्वानों का अन्तिम अभिमत है कि इस भाषा का नाम संध्या नहीं वरन् ‘संधा’ ही अधिक उपयुक्त है । प्रबोधचन्द्र बागची के अनुसार वास्तविक शब्द संधा है, जिसका अर्थ है अभिसन्धियुक्त, अभिप्राययुक्त भाषा । सिद्धों ने इस प्रतीक-भाषा अथवा संधा-भाषा का प्रयोग अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के अंकन के लिए किया है । इस प्रतीक या ‘कोड’ भाषा को बिना उनके सकेतों के स्पष्ट हुए कोई समझ नहीं सकता । सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उन सांकेतिक शब्दों की अर्थ-सूचिका तालिका प्राप्त हो जाती है, और तभी उन गुह्य अनुभवों का अर्थ स्पष्ट होता है । इन प्रतीकों का उद्गम ब्रजयान की अवस्थिति से पूर्व भी प्राप्त होता है और सिद्धों से सन्तों तक इनका निरन्तर प्रयोग मिलता है । निःसन्देह इस दीर्घ अवधि में इन प्रतीकों के अर्थ में परिवर्तन हुआ है, और कुछ नए प्रतीकों की भी सर्जना हुई है, किन्तु प्रतीक-भाषा का प्रयोग सतत बना रहा है । सिद्ध तथा सन्त साहित्य में इन प्रतीकों का प्रयोग द्विविध दृष्टिगोचर होता है—(१), उपमा मूलक तथा (२) उलट धार अथवा विरोध के रूप में । विद्वानों का मत है कि विरोध-मूलक प्रतीकों के द्वारा ही उलट-धार अथवा उलटवाणी-शैली का विकास हुआ ।

उपमा अथवा औपम्य मूलक प्रतीकों का प्रयोग सिद्धों तथा सन्तों दोनों ने किया है। औपम्यमूलक का अर्थ है पूर्ण रूप से घटित हो जाना। अर्थात् प्रतीक का पूर्ण आरोप अभीष्ट भाव या वस्तु पर घटित हो जाना। नीचे हम कुछ प्रतीकों के उदाहरण दे रहे हैं, जिनसे हमारी बात स्पष्ट हो जायगी।

सिद्धों और सन्तों ने प्रायः एक ही अर्थ में गंगा, यमुना, सरस्वती, संगम, सर्पिणी, मेरु पर्वत, योगिनी, सास, चन्द्र और सूर्य आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है। इन प्रतीकों का सांकेतिक अर्थ इस प्रकार है—

गंगा—इडा,

यमुना—पिंगला

मेरु पर्वत—मेरुदण्ड

सरस्वती—सुषुम्ना

संगम अथवा त्रिवेणी—इडा, पिंगला और सुषुम्ना का ध्याना  
चक्र पर मिलना।

सर्पिणी—कुण्डलिनी

योगिनी—महामुद्रा, सुरति

सास—(श्वास, सुषुम्ना, माया)

सूर्य—इडा

चन्द्र—पिंगला

इन प्रतीकों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रतीकों का प्रयोग सिद्धों और सन्तों ने किया है। उदाहरण के लिये 'तरुवर'\* का प्रतीक लिया जा सकता है। सिद्धों और सन्तों दोनों में इस प्रतीक का प्रयोग समान रूप से प्राप्त होता है। इस प्रतीक का प्रयोग उन्होंने, काया,

चित्त, सृष्टि विस्तार तथा सहज तत्व के उपमान के रूप में किया है।  
कुछ उदाहरण देखिये:—

काया—‘काया तरुवर पंचवि डाल’ (चर्चापद १)

‘तरुवर एक अनन्त डार साखा पुट्टप पत्र रसभरी आग।

(सन्त कबीर पृ० १८१)

चित्त—अहस चित्त तरुवरह गउ तिहुवणें वित्यार

(दोहा कोष पृ० ३८)

‘भौमि बिना अरु बीज बिन तरुवर एक भाई,

अनन्त फल प्रकासिया गुरु दिया बताई।

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३६)

सृष्टि-विस्तार—नाना तरुवर मोडलिल रे गअणत लागे लि डाली।’

अछै पुरुष इक पेड़ है निरंजन बाकी डार,

तिर देवा साखा भये, पात भया संसार।

(सन्त बानी संग्रह पृष्ठ २३)

सहज या परम तत्व—‘सहज महा तरु करिये ते लोए।’

(चर्चापद, ४३)

‘सहज सुनि इक बिरवा उपजा धरती जलहर सोखिआ’

(सन्त कबीर पृष्ठ १८१)

काया के अतिरिक्त गाय का प्रतीक भी दोनों में समान रूप से गृहीत है। गाय या गो को दोनों ने इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त किया है।

उदाहरणार्थ—

‘गविया बाँझे।’ (चर्चापद ३३)

‘कालहि जुतेरी बंसरिया छीनी कहा चरावै गाइ।’

(क० ग्रं० पृ० १४७)

इसी प्रकार मन की भावाव्यक्ति के लिये दोनों ने मूषक और मेढक के प्रतीकों को चुना है।

मूषक—‘निसि अंधियारी मूसा आचारा ।’ (चर्चापद २१)

मूसा पैठा बांबि में लारै सांपणि घाई ।’

(क० ग्रं० पृ० १४१)

मेंढक—‘वेंगस सांप बठिल जाअ ।’

(चर्चापद ३३)

‘मीडक सोवै सांप पहरइआ ।’ (क० ग्रं०, पृ० १३३)

नागिन—कुण्डलिनी

‘नागिन जगै चक्रषट नाचै’ (एक सन्त)

भुजंग—(साधक जो कुण्डलिनी रूपी सर्पिणी का स्वामी है)

‘शबरो भुजंग नैरामसिहारी पेम्ह राति पोहाइली’

(चर्चापद ८)

‘ऐसा भुवंगम जोगी करे ।

घरती सोषै अंबर झरे । (गोरख बानी पृष्ठ १७४)

‘साहर सोषि भुजंग बलइओ’ (सन्त कबीर पृष्ठ १०५)

अब प्रतीकों के कुछ उदाहरण केवल सन्तों की बानियों से नीचे दिये जा रहे हैं ।

‘इड़ा और पिगला नाड़ी का प्रयोग सन्त दरिया साहिब बिहार वाले ने ‘सूर’ और ‘चंद’ के प्रतीक के द्वारा किया है । वे अपनी बानी के ‘सन्त नाम’ स्तंभ के पृष्ठ १० पर कहते हैं :—

‘मूल शब्द धुनि होत अंजोरा । सुरति बांधि राखो एक ठोरा ।

सुरति डोरि चेतो चित लाई । मूल शब्द की यही उपाई ।

सूर चन्द एक घर आवै । तब ही डोरी ले बिलमावै ।

इसी स्तंभ में तथा इसी पृष्ठ में अगली पक्तियों में जीवात्मा अथवा आत्मा के लिये वे ‘हंस’ का प्रतीक प्रयुक्त करते हैं, यथा:—  
भरम छुटै सो करी उपाई । जाते हंस छप लोके जाई ।

गंगा, यमुना और सरस्वती के प्रतीकों द्वारा क्रमशः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के त्रिकुटी में सम्मिलन के द्वारा 'संगम' प्रतीक का निर्देश करते हुए सन्त केशव जी 'केशवदास जी की 'अमीघूट' के पृष्ठ ७, शब्द १० (वेलवेडियर प्रेस ) में कहते हैं:—

‘निगुन नाम निधान, करो मन आरति हो ॥

गंगा जमुना सरसुती सुखमन घर बिसराम ।

‘त्रिकुटी’ का प्रतीक सन्तों ने इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के आज्ञा चक्र पर मिलने के लिए चुना है । इन तीनों नाड़ियों के सम्मिलन को अधिकतर ‘संगम’ और कहीं-कहीं त्रिवेणी भी कहा है । किन्तु, कहीं-कहीं त्रिकुटी भी कहा है । त्रिकुटी के प्रतीक का प्रयोग ‘यारी साहब की रत्नावली’ में देखिए :—

‘रावन हूँ पूरे आसन । बैठे प्रेम तत्त सिंहासन ।

त्रिकुटी लोक मेल करि जोरै । सहजहि लंका गढ़ तब तोरै ।\*

यारी साहब द्वारा प्रयुक्त ‘संगम’ के प्रतीक का एक उदाहरण देखिए:

‘गगन गुफा में बैठि केरे, अजपा जपै बिन जीभि सेती ।

त्रिकुटी संगम जोति है रे, तहँ देख लेतै ज्ञान सेती ॥

सन्तो ने पतिव्रता नारी का प्रतीक अनन्य भक्त के लिए किया है । जिस प्रकार पतिव्रता नारी केवल अपने पति को छोड़ कर अन्य पुरुष की ओर दृष्टिपात नहीं करती, उसी प्रकार भक्त भी अपने इष्ट अथवा मनोनीति साधना-पद्धति को छोड़कर अन्य देवताओं अथवा साधना पद्धति की ओर दृष्टि पात नहीं करता । इस भावना का

उल्लेख करते हुए सन्तचरन दास जी अपनी बानी के पृष्ठ ३३ पर 'पतिव्रता का अंग' शीर्षक स्तम्भ में कहते हैं: —

‘पतिव्रता वह जानिए, आज्ञा करै न भंग ।

पिय अपने के रंग रतै, और न सोहै ढंग ।

\*

\*

\*

पति की ओर निहारिए, औरन सूं क्या काम ।

सबै देवता छोड़ि कै, जपिए हरि का नाम ।

खसम तुम्हारो राम है, इत-उत रूख मत मारि ।

वरनदास यों कहक हैं, यही धारना धारि ।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रतीकों की संयोजना सन्त—काव्य के अन्तर्गत प्राप्त होती है । किन्तु, प्रमुख प्रतीक उपर्युक्त ही हैं, इसलिए प्रतीक—चर्चा का उपसंहार किया जा रहा है ।

## रूपक की परिभाषा और सन्तों की रूपक-योजना

रूपक शब्द का अर्थ है एकता अथवा अभेद प्रतीत । इसमें अति साम्य के कारण प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोपण कर किया जाता है । कुछ विद्वान अंग्रेजी ‘एलेगरी’ को रूपक का पर्याय मानते हैं । किन्तु डा० शम्भूनाथ सिंह इस साम्यता का विरोध करते हुए कहते हैं, “रूपक एक अलंकार है, जिसमें उपमेय और उपमान का अभिन्नत्व दिखाया जाता है, परन्तु ‘एलेगरी’ में यह बात नहीं होती । रूपक नाटक का प्राचीन नाम भी है । अतः रूपक काव्य से नाटक काव्य का भ्रम भी हो सकता है । इसी प्रकार कुछ लोगों ने एलेगरी को केवल रूपक न कहकर अध्यवसित रूपक कहा है, जो अधिक उपयुक्त है । प्रतीक भी ‘एलेगरी’ से भिन्न अर्थ का बोधक है, यद्यपि एलेगरी में प्रायः प्रतीकात्मकता भी रहती है प्रतीक में प्रस्तुत ( वर्ण्य वस्तु)

नगण्य होती है, उसका अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही साध्य होता है। अन्योक्तियां प्रायः प्रतीकात्मक ही होती हैं, किन्तु एलेगरी में कभी-कभी अन्योक्ति नहीं समासोक्ति होती है। जिसमें प्रस्तुत और प्रतीयमान दोनों अर्थों का समान महत्व होता है।” नवीन विचारों के अतिरिक्त प्राचीन काव्याचार्यों ने भी रूपक के स्वरूप-निर्धारण में पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। भरत से लेकर विश्वनाथ, जयदेव और अप्पय दीक्षित तक इस रूपक-प्रसंग की एक महती शृंखला है। हिन्दी में आचार्य केशव और कुलपति मिश्र ने भी काफी विचार किया है। हम इस स्थल पर विस्तार भय से इन सभी आचार्यों की रूपक-सम्बन्धी विचार-सरणि से उद्धरण नहीं उपस्थित कर रहे हैं। हमारा तो रूपक के सम्बन्ध में यह मत है कि यह एक सादृश्य-मूलक अलंकार है और चाहे उसका सादृश्य कथा के अन्तर्गत प्राप्त होता है, और चाहे वह अन्योक्ति मूलक हो। सन्तों के काव्य के अन्तर्गत दोनों प्रकार के रूपकों का विधान प्राप्त होता है। किन्तु, इसके पूर्व कि सन्तों के रूपकों के विषय में कुछ लिखा जाय हम यह आवश्यक समझते हैं कि रूपकों के कुछ उदाहरण वेदों के भी देख लिए जाय। ऋग्वेद ( ४—५८ ) का यह सूक्ति रूपक के उदाहरण के लिए दृष्टव्य है:—

‘एता अर्षन्ति ह्यद्यात् समुदाच्छतव्रजा रिपुणा नावक्षो  
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्व आसाम्॥५॥  
सम्यक् स्रवन्ति सरितो न घेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः :  
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥६॥  
सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यद्वाः ।  
घृतस्य धारा अरूषो न बाजी काष्ठा भिन्दन्मूर्मिभिः पिम्बमानः॥७॥

इसका अर्थ श्री अरविन्द घोष ने इस प्रकार किया है, “कामदेव कहता है कि ये हृदय समुद्र से चलती हैं। शत्रु द्वारा सैकड़ों आइनों में

बन्द की हुई ये दीख नहीं सकतीं । मैं निर्मलता (घृत) की धाराओं की ओर देखता हूँ, क्योंकि उनके मध्य में सुनहरा बँत रखा हुआ है ( ५वाँ मन्त्र ) । ये सम्यक प्रकार से स्रवण करती हैं जैसे कि बहती हुई नदियाँ, ये अन्दर हृदय के द्वारा और मन के द्वारा पवित्र की जाती हुई; ये निर्मलता की लहरें ऐसे चलती हैं जैसे कि पशु अपने हाँकने वाले की अध्यक्षता में हैं ( ६ठा मन्त्र ) । पानों कि उस रास्ते पर चल रहीं हों जो कि समुद्र ( 'सिंधु उपरले समुद्र' ) के सामने है, ये महती धारायें वेग युक्त गति से भरपूर, किन्तु प्राण की शक्ति ( वात, वायु ) से सीमित हुई चलती हैं, ये जो कि निर्मलता ( घृत ) की धारायें हैं; वे एक जोर मारते हुए घोड़े के समान हैं जो कि अपने सीमित करने वाले बन्धनों को तोड़ फेंकता है, जबकि वह लहरों द्वारा परिपुष्ट हो जाता है, ( ७वाँ मन्त्र ) ।” इसका भाष्य करते हुए श्री अरविन्द आगे कहते हैं, “देखते ही यह मालूम हो जाता है कि यह रहस्यवादी की एक कविता है, जो कि अपने अभिप्राय को अधर्मियों से छिपाने के लिए उसे रूपकों के आवरण के नीचे ढक रहा है, जिसको कहीं-कहीं पर वह पारदर्शक हो जाने देता है ताकि वे जो देखना चाहते हैं उसमें देख सकें ।

उपर्युक्त मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं, “जो वह कहना चाहता है वह यह है कि दिव्य ज्ञान हर समय हमारे विचारों के पीछे सतत रूप से प्रवाहित हो रहा है, परन्तु आन्तरिक शत्रु उसे हमसे रोके रहते हैं; जो शत्रु कि हमारे मन के तत्त्व को इन्द्रिय-क्रिया और इन्द्रियाश्रित बोध तक ही सीमित कर देते हैं, जिससे कि यद्यपि हमारी सत्ता की लहरें उन किनारों पर टकराती हैं जो कि अति-चेतन तक असीम तक पहुँचते हैं, तो भी इन्द्रियाश्रित मन की स्नायवीय क्रिया द्वारा सीमित हो जाती हैं और वे अपने रहस्य को प्रकट नहीं कर पातीं । वे उन धोड़ों के

समान हैं जो कि नियन्त्रण से काबू में रखे हुए और लगाम से रोके हुए हैं; केवल तब जब कि प्रकाश की धाराये अपनी शक्ति को बढ़ा कर भरपूर कर लेती हैं, जोर मारता हुआ घोड़ा इन बन्धनों को तोड़ पाता है और वे स्वच्छन्दता पूर्वक बहने लगती हैं, उस ओर जहाँ से कि, सौमरस अभियुत हुआ है और यज्ञ पैदा हुआ है।” श्री अरविन्द द्वारा किए हुए भाष्य से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि गाथा अथवा आख्यान—अर्थ के अतिरिक्त वेद-सूक्तों का एक अर्थ और भी है—और कदाचित् वही सही अर्थ भी है, जिसे हम रूपकार्थ कह सकते हैं।

ऋग्वेद से एक दूसरे रूपक का उदाहरण लीजिये, जिसमें वैदिक ऋषि ने अवचेतन का रूपक तम द्वारा लिया है। इस सूक्त को ‘सृष्टिसूक्त’ ( १०।१२६ ) कहते हैं। ‘तम आसीत्तमसा गुलमग्रे—ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम। ( तुच्छत्रेनाभ्याविहितं यदासीत् ) तपस्तन्महिनाऽजायतकम् ॥३॥

कामस्तग्रे समवर्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

निरशयीना विततो रशिरेषामद्यः स्विदासीदुवारि स्विदासीत्” ॥५॥

अर्थात् “अन्धकार से घिरा हुआ अन्धकार यही सब कुछ था जो कि प्रारम्भ में था; एक समुद्र का जो कि बिना मानसिक चेतना के था .... इसमें से एक पैदा हुआ अपनी शक्ति की महत्ता के द्वारा । (३) पहलेपहल इसके अन्दर इसने इच्छा (काम) के रूप में गति की, जो इच्छा कि मन का प्रथम बीज था । उन्होंने जो कि बुद्धि के स्वामी थे असत् में से उसे पा लिया जो कि सत् का निर्माण करता है; हृदय के अन्दर उन्होंने इसे सोद्देश्य अन्तःप्रवृत्ति के द्वारा और विचारात्मक मन—द्वारा पाया ॥४॥ उनकी किरण दिगन्तसम रूप से फैली हुई थी, उसके ऊपर भी कुछ था, उसके नीचे भी कुछ था ॥५॥” यद्यपि इस सूक्त में वामदेव सूक्त के समान रूपक-विधान तो

नहीं प्राप्त होता, किन्तु इसके द्वारा वामदेव सूक्त का रूपक स्पष्ट हो जाता है। इस सूक्त का भाष्य श्री अरविन्द ने इस प्रकार किया है। “अचेतन के समुद्र में, ‘एक तत्व’ हृदय में उठता है, जो सर्व प्रथम इच्छा (काम) के रूप में आता है वही हृदय समुद्र में वह सत्ता के आनन्द की एक अव्यक्त इच्छा के रूप में गति करता है और यह इच्छा उसका प्रथम बीज है, जो कि बाद में इन्द्रियाश्रित मन के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार देवताओं को अविचेतन के अंधकार में से सत् को, सचेतन सत्ता को, निमित्त कर लेने का एक साधन मिल जाता है। वे इसे हृदय में पाते हैं और विचार के तथा सोद्देश्य प्रवृत्ति के विकास के द्वारा बाहर निकाल लाते हैं, ‘प्रतीष्या’ जिस शब्द से मनोमय इच्छा का ग्रहण करना अभिप्रेत है, जो कि उस पहली अस्पष्ट इच्छा से भिन्न है जो कि अविचेतन में से प्रकृति की केवल प्राणमय गतियों में उठती है। सचेतन सत्ता, जिसे कि वे इस प्रकार रचते हैं, इस प्रकार बिस्तृत होती है मानों कि वह अन्य दो विस्तारों के बीच में दिगन्तसम रूप में हो, नीचे अविचेतन की अन्धकारमय निद्रा होती है, ऊपर होती है अतिचेतन की प्रकाश पूर्ण रहस्यमयता। ये ही उपरले और निचले समुद्र हैं।” \*

वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों और पुराणों में भी रूपक-योजना की अन्यतम् कलात्मकता प्राप्त होती है। नीचे दोनों के कुछ उदाहरण क्रमशः दिए जा रहे हैं। पहला उदाहरण श्वेताश्वतर उपनिषद का है जिसमें अजा और अज के रूपक द्वारा प्रकृति और पुरुष अथवा ईश्वर और जीव को समझाने की चेष्टा की गई है। श्लोक इस प्रकार है :—

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाम जोज्यः ॥

श्वेता० ४।५

अर्थात् अपने अनुरूप बहुत सी प्रजा उत्पन्न करने वाली लोहित शुक्ल और काले रङ्ग की एक अजा (प्रकृति) है। एक अज (जीव) है, जो उस अजा से प्रीति करता है, उसके साथ जो जाता है। एक दूसरा अज (ईश्वर) है जो उस भुक्त भोगी अजा को त्याग देता है।

इसी उपनिषद् के ४।६-७। श्लोकों में जीव, ईश्वर और प्रकृति के रूपक को दो समान रूप-रङ्ग वाले पक्षियों और वृक्ष के द्वारा इस प्रकार समझाया गया है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।  
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाक शेति ॥  
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।  
जुष्टं यदा पश्यत्यन्त मीशमस्य महिमानमिति वीत शोक ॥

अर्थात् सदा परस्पर मिल कर रहने वाले दो सखा सुपर्ण एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक तो स्वादिष्ट फलों को भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है उनमें से एक तो अनेक भावनाओं में मग्न हो कर शोक करता है। जिस समय वह अपने दूसरे साथी की ओर देखता है और उसकी महिमा का अमुभव करता है उस समय वीतशोक हो जाता है। इस रूपक की व्याख्या अधिकांश विद्वानों ने जीव, ईश्वर और माया के रूपक द्वारा की है। किन्तु, इस विषय में हमारा अभिमत उन विद्वानों से भिन्न है। हम वृक्ष को संसार मानते हैं, जिसमें दो समान रूप वाले पक्षी आसुरी और दैवी प्रकृति के व्यक्ति बैठे हैं। उनमें से प्रथम (आसुरी वृत्ति वाले) संसार का भोग, वासना के साथ करने के कारण बार-बार आवागमन के चक्र में पड़ते हैं और दैवी प्रकृति के व्यक्ति संसार में वीतराग अथवा वासना रहित रहते हुये उसमें लिप्त नहीं होते। अब आसुरी प्रकृति वाले व्यक्ति दैवी प्रकृति वालों को देख कर

उनका अनुसरण करते हैं, तो वे भी तद्वत् होकर मुक्त हो जाते हैं । ऐसे ही अनेक उत्कृष्ट रूपकों से उपनिषद् भरी पड़ी हैं । उदाहरण के लिये कठोपनिषद् १ । ३ । १ , बृहदारण्यक ८ । ५ । ३ देखे जा सकते हैं ।

उपनिषदों के अतिरिक्त पुराणों के तो प्रायः समग्र आख्यान प्रकृष्ट रूपकों से ओत-प्रोत हैं । विष्णु का प्रलय के पश्चात् शेष-शय्या पर क्षीर सागर में शयन करना, पुराणों का एक बहुश्रुत आख्यान है । किन्तु भक्ति भावना से आपूर्यमाण भक्तों की दृष्टि प्रायः इस ओर गई ही नहीं कि यह अतिशय सुन्दर रूपक योजना है, और इसके द्वारा एक गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य का गोपन किया गया है । भक्त तो भक्ति-भावना में विभोर होने के कारण इस रहस्य का उद्घाटन नहीं कर सके किन्तु, विद्वानों की दृष्टि पुराणों को कपोल-कल्पित समझने के कारण इस रूपक की ओर नहीं गई । श्री अरविन्द इस रूपक को खोलते हुये कहते हैं, “क्योंकि उन्होंने विष्णु के साँप का एक नाम भी रखा है, वह नाम है ‘अनन्त’, जिसका अर्थ है असीम ; इसलिये उन्होंने हमें पर्याप्त स्पष्ट रूप में कह दिया है कि यह कल्पना एक अलंकार ही है और विष्णु, अर्थात् सर्व व्यापक देवता, प्रलय काल में अनन्त की अर्थात् असीम की कुण्डलियों के अन्दर शयन करता है । बाकी क्षीर समुद्र के विषय में यह वैदिक अलंकार हमें यह दर्शाता है कि असीम सत्ता का समुद्र होना चाहिये और यह असीम सत्ता का समुद्र है नितान्त मधुरता का, दूसरे शब्दों में विशुद्ध सुख का एक समुद्र । क्योंकि क्षीर या मधुर दूध (जो कि स्वयं भी एक वैदिक प्रतीक है) स्पष्ट ही एक ऐसा अर्थ रखता है जो कि वामदेव के सुक्त के ‘मधु’ शब्द या मधुरता से भिन्न नहीं है ।”

ऊपर के वर्णन द्वारा हमने यह देखा कि किस प्रकार वेदों से उपनिषद और उपनिषदों से पुराणों में रूपक-योजना का तारतम्य

प्राप्त होता है। अब हम सिद्धों और तत्पश्चात् सन्तों द्वारा प्रयुक्त रूपकों पर विचार करेंगे। ११वीं शदी में एक जैन सिद्ध मुनि राम-सिंह हुए हैं। उन्होंने सांप और उसकी केंचुल तथा विष का रूपक मानव के रूप परिवर्तन तथा भोग वासना पर किस उत्तम ढङ्ग से घटित किया है देखिए :

सप्पि मुक्की कंचुलिय जं बिसु तंण मुएइ ।

भोगहं भाउ ण परिहरइ लिगगहणु करेइ ।

(सन्त-सुधा-सार पृ० १६)

अर्थात् सांप केंचुल तो त्याग देता है, किन्तु विष को नहीं त्यागता। ऐसे ही मनुष्य मुनि का वेष धारण तो कर लेता है किन्तु भोगों की भावना को नहीं छोड़ता।

जैन मुनि रामसिंह का एक दूसरा सरस काव्यमय रूपक देखिये, जिसमें उन्होंने प्रियतम और प्रेयसी के रूपक द्वारा जीव अथवा साधक तथा ईश्वर को स्पष्ट किया है।

हउं सगुणी पिउ णिगुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।

एकहि अङ्ग वसन्त यहं मिलिउ ण अङ्गहि अंगु ॥

हलि सहि काहं करइ सु दप्पणु ।

जहि पडि बिबु ण दीसइ अप्पणु ॥

धंधवालु भो जगु पडिहासइ ।

धरि अच्छन्तु ण घर वह दीसइ ।

(सन्त-सुधा-सार पृ० ३२)

अर्थात् मैं सगुण हूँ और मेरा प्रियतम निर्गुण, निर्लक्षण और निस्संग। एक ही अङ्ग (शरीर) में, एक ही कोठे (हृदय-गुहा) में हम दोनों रहते हैं, फिर भी अङ्ग से अङ्ग नहीं मिल पाया।

हेली सखि ! उस दर्पण को लेकर क्या करूँ, जिसमें अपना प्रतिबिम्ब न दिखाई दे ! प्रतीत होता है, जैसे यह सँसार मुझे लज्जित कर रहा है। गृह में रहते हुए भी मुझे गृह स्वामी के दर्शन नहीं होते।

जैन सिद्धों के अतिरिक्त नाथ-संप्रदाय के सिद्धों में भी रूपक-योजना के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनमें कहीं-कहीं काव्य की सरसता रूपकों से मिलकर भाव-विभोर कर देती है और कहीं-कहीं साधनात्मक पारिभाषिक प्रतीकों के संगुफन के द्वारा रूपक-योजना साधारण पाठक के लिए अत्यन्त दुरूह हो गई है। हमें यह वाध्य होकर कहना पड़ता है कि नाथ सिद्धों की अपेक्षा जैन सिद्धों के रूपकों में काव्यात्मक सरसता और स्पष्टता अधिक है। रूपक-योजना की इस समृद्ध-परम्परा के पश्चात् अब हम अपने मूल विषय सन्तों की रूपक योजना की ओर आते हैं। सन्त परम्परा के शिरोमणि सन्त कबीर के रूपक द्वारा ही हम श्रीगणेश करेंगे। कबीर द्वारा प्रयुक्त सौभाग्यवती स्त्री का एक रूपक देखिये:-

“जो मैं पिय के मन नहि भायें तोका परोसनि कै हुलराये।

का चूरा पाइल अमकायै कहा भयो बिछवा ठमकाये ::

कबीर उसी को सौभाग्यवती कहते हैं, जो अपना तन, मन, यौवन सभी कुछ अपने प्रियतम को समर्पित कर दे। सौभाग्यवती स्त्री के इस रूपक द्वारा उन्होंने साधक और ईश्वर का रूपक बांधा है। सौभाग्यवती नारी की भाँति साधक को भी ईश्वर को अपना समग्र समर्पण कर देना चाहिए। इस भाव को द्योतित करने वाली कबीर की सरस रूपक-प्रधान एक पंक्ति देखिये:-

तन मन जोबन सौपि सरोरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा।

(सन्त-सुधा-सागर पृ० ७१)

‘बूंद’ और ‘समुद्र’ के रूपक द्वारा जीव का अस्तित्व विहीन हो जाना अद्वैत बादियों का एक सुपरिचित रूपक है। कबीर ने अपनी योग की साधना द्वारा इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया था। इसलिए उनकी अभिव्यक्ति में मनोग्राहिणी सरसता है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

हेरत-हेरत हे सखी, रह्या कबीर द्विराइ ।

बूंद समानी समंद में, सो कत हेरी जाय ॥

(सन्त-सुधा-सार पृ० १२६)

किन्तु, उनके विरह-सम्बन्धी रूपकों में जो तल्लीनता है वह अनन्य दुर्लभ है। उनका इस विषय का उदाहरण दिया जा रहा है, जिसमें विरह-विदग्धा आत्मा अपने प्रियतम का मात्र एक बार दर्शन पाने के लिए तिल-तिल करके जल रही हैं :—

इस तन का दीवा करूँ, बाती मोल्यूँ जीव ।

लोही सीचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखो पीव ॥

(सन्त-सुधा-सार पृ० १२४)

कबीर के साहित्य में इस प्रकार के अनेक सरस रूपकों के उदाहरण भरे पड़े हैं। उनके इन रूपकों में जो काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है वह अन्य परवर्ती अथवा पूर्ववर्ती सन्तों में प्रायः कठिनाई से प्राप्त होती है।

आत्मा-परमात्मा-मिलन की विवाह के रूपक के द्वारा प्रायः कबीर आदि सभी सन्तों ने स्पष्ट करने की चेष्टा की है। सन्त नानक ने भी सरस ढंग से इस रूपक को रखा है। इन पंक्तियों में आत्मा-परमात्मा में मिलने की उत्सुक दूल्हन के समान साज-सज्जा करती हुई दिखाई गई है —

देहु सज्जन असी सड़ोआ, जिउ होवै साहिब सिउ मोलु ॥

धरि धरि एहो पाहुना, सदड़े नित पावनि ॥

सहण हारा सियरी ऐ नानक से दिह आवनि ॥

( संत-सुधा-सार )

अर्थात् विवाह का सम्बन्ध और लग्न का समय शोध लिया गया है, सब सम्बन्धी मुझ दुलहन पर तेल चढ़ाते हैं। मेरे सज्जनों मुझे आशीस दो कि मेरे स्वामी से मेरा मिलन हो। यह सम्देशा घर-घर पहुँचा दो। विवाह का निमन्त्रण घर-घर भेज दो। जिसने बुला भेजा है उसकी याद करो। नानक वह दिन आ रहा है।

सन्त नानक के अतिरिक्त दादू ने भी जीवात्मा-परमात्मा के मिलन को पति—पत्नी के मिलन के रूपक में बाँधा है—

तेज पुंज की सुन्दरी, तेज पुंज का कन्त।

तेज पुंज की सेज पर, दादू बन्या बसन्त।

( सन्त-सुधा-सार पृ० ४६३ )

हमें सूफी-साधना और सन्त-मत की साधना और भावाभिव्यक्ति में कहीं कहीं अद्भुत साम्य दृष्टि गोचर होता है। दादू के उपर्युक्त उद्धरण में भी सूफी-प्रतीक पद्धति की विलक्षण समता प्राप्त होती है। अस्तु, इस स्थल पर प्रेमाख्यानक सूफी कवियों के रूपक-सम्बन्धी उदाहरण देना विषयान्तर न होगा। तो लीजिए प्रसिद्ध सूफी तथा प्रेमाख्यानक कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत से एक रूपक-विधान देखिए—

‘मैं एहि अर्थ पंडितहू बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा ॥  
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घर मांही ॥  
तन चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनी चीन्हा ॥  
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिन गुर जगत को निरगुन पावा ॥  
नागमती यह दुनियां धन्धा। बाचा सोइ न जो एहि चिति बन्धा ॥  
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू ॥  
प्रेम कथा एहि भांति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥

अन्योक्ति परक इस रूपक का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है, इसलिए यहाँ पर नहीं दिया जा रहा है। जायसी के पद्मावत से एक और रूपक-योजना देखिए, जिसमें कवि ने जीव (साधक) और ब्रह्म के सम्बन्ध का रूपक उपस्थित किया है। जायसी का यह रूपक पद्मावती के स्नान के साथ सम्बद्ध किया गया है—

कहा मानसर चाह सो पाई । पारस रूप यहां लागि आई ॥  
 या निर्मल तिन्ह पायन परसे । पावा रूप रूप के दरसे ॥  
 मलय समीर वास तन आई । भा सीतल गै तपन बुझाई ॥  
 ना जानौ कीन पवन लै आवा । पुन्य दसा भई पाप गंवावा ॥  
 ततखन डार वेग डतराना । पावा सखिन्ह चंद विहंसाना ॥  
 विकसा कुमुद देखि ससि रेखा । भई तहँ आप जहा जेह देखा ॥  
 पावा रूप रूप जस चाहा । ससि मुख जनु दर्पण जेइ रहा ॥  
 नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर ॥  
 हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नगहीर ॥

जायसी ने अपनी इस महनीय रूपक-योजना में तत्त्व दर्शन के साथ जो अपनी सौन्दर्य बुद्धि का संगुफल किया है, वह अन्य सन्त कवियों की रूपक-योजना में प्रायः दुर्लभ है। इस रूपक के माध्यम से कवि को यह कहना अभीष्ट है कि ब्रह्म अथवा ईश्वर परम तथा अनन्त सौन्दर्य सम्पन्न है। इस जगत में जो भी दृश्यमान वस्तुएँ हैं, वे सभी उसकी आभा कान्ति से प्रोद्भासित हो रही हैं। इस रूपक में पद्मावती ब्रह्म का प्रतीक है जो अनन्त सौन्दर्य सम्पन्ना है। साधक ही मानसरोवर है। जैसा कि वेदान्तदर्शन की स्थापना है कि जीव ब्रह्म का संस्पर्श पाकर ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रसंग में कवि ने इसी प्रसंग को रखा है। पद्मावती का स्पर्श पाकर मानसरोवर का जल तथा उसकी अन्य वस्तुयें निर्मल हो कर अनित्य सौंदर्य से परिपूर्ण हो उठीं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि ब्रह्म का संस्पर्श पाकर जीव के

मानस का समग्र कल्मष धुल जाता है, और वह अनन्त--सौन्दर्य--सम्पन्न ब्रह्म ही हो जाता है। जायसी के पद्यावत में इस प्रकार के अनेक सुन्दर अन्योक्ति-परक रूपकों की सरस योजना हुई है। इस प्रकार की प्रेम-परक योजनायें अन्य प्रेमाख्यानक कवियों ने भी की हैं किन्तु विस्तार भय से उनके उदाहरण नहीं उपस्थित किए जा रहे हैं।

सन्त-कवियों में यह रूपक-योजना द्विविध देखी जाती है--  
(१) भावपरक अथवा प्रेमपरक तथा (२) साधना-परक। अनुभूति दोनों रूपकों में उभयनिष्ठ है। रूपक-विधान की दृष्टि से भी इनके रूपक द्विविध हैं--(१) रूपक अलंकार के रूप में तथा (२) अन्योक्ति के रूप में। हम उनके काव्य से दोनों प्रकार के रूपकों को देने की चेष्टा कर रहे हैं। प्रेमपरक अथवा भावानुभूति के कुछ उदाहरण कबीर और नानक के काव्य से ऊपर दिए जा चुके हैं। अन्य कवियों के भी कुछ उदाहरण देखिए :—स्त्री-पुरुष के सम्मिलन के रूपक द्वारा संत चरनदास ने आत्मा परमात्मा के मिलन का जो सरस रूपक उपस्थित किया है, उसे उनके निम्नलिखित पद में देखिए :—

टुक रंग महल में आव,  
कि निरगुन सेज बिछी ॥१॥  
जहाँ पवन गवन नहि होय,  
जहाँ जा सुरति वसी ॥२॥  
जहँ त्रैगुन बिन निरबान,  
जहाँ नहि सूर-ससी ॥३॥  
जहँ हिल-खिल कै सुख-मान,  
मुकुति की होय हँसी ॥४॥  
जहँ पिय-प्यारी मिलि एक,  
कि आशा दुई नसी ॥५॥

जहँ चरनदास गलतान,

कि सोभा अमित लसी ॥६॥

सन्त चरनदास का एक दूसरा पद देखिए, जिसमें उन्होंने साधना-परक रूपक-योजना की है। यहाँ पर इनकी रूपक-योजना अधिक प्रतीकार्थक न होकर प्रायः अलंकार बद्ध ही है :—

घट में तीरथ यों तुम न्हावो ॥टेक॥

ताके न्हान अमर पद पहुँचो । आदि पुरुष निश्चै करि पावो ॥१॥

कासी सो तत करनी कीजै । कलिमल सकल नसावो ॥२॥

रहनि-गहनि पुष्कर करि जानो । या में मज्जन क्यों न करावों ॥३॥

ध्यान द्वारिका दृढ़ करि परसो । हित करि छाप लगावो ॥४॥

इन्द्रीजित सोइ बढीनाथा । सत करि चित में लावो ॥४॥

भँवर गुफा में है तिवेनी । सुरति निरति लै धावो ॥६॥

जोग जुक्ति सूँ चुबकी लेकरि । काग पलटि हंसा होई जावो ॥७॥

तन मथुरा अरु मन बिन्दावन । तामें रास रचावो ॥८॥

हिरदे कँवल खिले परकासा । दरसन देखि अधिक हुलसावो ॥९॥

गुरु चरनन भें सबही तीरथ । सिमटि सिमटि तहँ आवो ॥१०॥

चरनदास सुकदेव कहत हैं । अपनो मस्तक भेंट चढ़ावो ॥११॥ \*

दो पद सन्त पलटूदास के भी देखिए । प्रथम कुडलिया में उन्होंने खजूर के रूपक द्वारा उस व्यक्ति का चित्रण किया है, जिसकी महानता उसी के अहम् में केन्द्रित है, तथा दूसरा रूपक प्रतीकों के माध्यम से अभ्योक्ति-परक है, जिसमें उन्होंने सन्त-मति की साधना-पद्धति का वर्णन किया है :—

( १ )

बढ़ते-बढ़ते बढ़ गए जैसे बढी खजूर ॥

जैसे बढी खजूर पथिक छाया नहिं पावै ।

ज्यों त्यों कै जो फिर ताहि कैसे कोउ खावै ॥  
 पात में कांटा रहै छुवत कै लोह आवै ।  
 पेड़ सोऊ बेकाम कुवा को धरन बनावै ॥  
 संपत्ति में बढ़ि जाय दया बिन भला भिखारी ।  
 जातिहु में बढ़ि जाय, भक्ति बिन भला चमारी ॥  
 पलटू सोभा दोउ की दया भक्ति से पूर ।  
 बढ़ते-बढ़ते बढ़ि गए जैसे बढ़ी खजूर ॥ \*

( २ )

उलटा कूवा गगन में तिसमें जरै चिराग ।  
 तिसमें जरै चिराग बिना रोगन बिन बाती ।  
 छः रितु बारहमास रहत जरत दिन राती ॥  
 सत गुरु मिला जो होय, ताहि की नजर में आवै ।  
 बिन सत गुरु कोउ होय, नहि बाको दरसावै ॥  
 निकलै एक अवाज चिराग की जोतिहि माहीं ।  
 ज्ञान समाधी सुनै और कोउ सुनता नाही ॥  
 पलटै जो कोई सुनै ताके पूरे भाग ।  
 उलटा कूवा गगन में तिसमें जरै चिराग ॥

एक साधना का अन्योक्ति परक रूपक तुलसी साहिब हाथरस वाले का भी देखिए । इस रूपक में तुलसी साहिब ने त्रिवेणी के स्थान के रूपक द्वारा आज्ञा-चक्र पर इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना नाडियों के सम्मिलन और उस अनुभव-परक पारलौकिक अनुभूति का वर्णन किया है । रूपक इस प्रकार है :—

करि प्रयाग असनान अगम गम तुरत लखावै ।  
 काग गवन बुधि छांड़ि हंस का हंस कहावै ।  
 चोंच छीर में डारि नीर की सुधि बिसराना ।  
 अरे हाँ रे तुलसी चलै हंस की चाल मान सर अपना जाना ॥ \*

---

\* तुलसी साहब की बानी पृष्ठ १६ बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

साधना-परक रूपकों के अतिरिक्त उन्होंने भाव-परक रूपकों की भी संयोजना की है। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण उनकी बानी के पृष्ठ ५२ पर 'बारह मासा लावनी' के शीर्षक में प्राप्त होता है। रूपक विरहनी नारी का है, जिसके द्वारा आत्मा की परमात्मा से मिलने की विकलता दिखलाई गई है।

एक साधना-परक रूपक यारी साहब का भी देखिए, जिसमें उन्होंने भव्य ढंग से संत मत की साधना-पद्धति को रखा है।

जहँ मूल न डारि न पात है रे, बिन सींचे बाग सहज फूला।  
बिन डाँड़ी का फूल है रे, निर्बास के बास भँवर भूला ॥  
दरियाव के पार हिडोलना रे, कोउ बिरही बिरला जा झूला।  
यारी कहे इस झूलने में, झूले कोउ आसिक दोला ॥\*

सन्त-साहित्य में रूपक-योजना का इतना प्रसार है कि उसे कोई एक अध्याय के अन्तर्गत किस प्रकार लिख सकता है। एक से एक अनूठे और अनुपम रूपकों के अन्तर्गत उन्होंने अपनी साधना-उपपत्तियों को रखा है। हम अब इस स्थल पर केवल दो रूपकों के उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। प्रथम रूपक सन्त मलूक-दास का है, जिसमें उन्होंने इन्द्रियों की वासना को गाय अथवा अन्य कोई पशु माना है, जो अनेक जन्मों के पश्चात् भी सांसारिक भोगों में तृप्ति नहीं मानती। दूसरा रूपक केशवदास के अमी घूँट से उपस्थित किया जा रहा है, जिसमें साधक अथवा जीव को प्रियतम अथवा ब्रह्म के साक्षात्कार के पश्चात् फिर संसार में किसी प्रकार भी अनुरक्ति नहीं रहती, वह तन्मय हो जाता है। इस रूपक को प्रियतम और प्रियतमा के प्रसिद्ध भावना-परक रूपक के द्वारा ही मनोहर ढंग से अभिव्यक्त किया गया है :—

( १ )

इन्द्री खाय गई जग सारा ।

निस दिन चरा करे बिन काया, कोई न हांकन हारा ॥१॥

पीय रक्त करै तन झंझरा, सरबस जाय नसाई ।

जैसी भीति काठ घुन लागै, बहुरि रहै फौकलाई ॥२॥

होता बीज ओट के लोह, सो देही का राजा ।

ऐसी वस्तु अकारन खोवै, अपना करै अकाजा ॥३॥

मनुवा मार भजै भगवन्तहि, या मति कबहूँ न ठाना ।

जियरा दोय घरी के सुख को कहत मलूक दिवाना ॥ १॥

और दूसरा पद इस प्रकार है :—

( २ )

पिय कारे रूप भुलानी हो ।

प्रेम ठगौरी मन रह्यो, बिन दाम बिकानी हो ॥१॥

भँवर कँवल रस बोधिया, सुख-स्वाद बखानी हो ।

दीपक ज्ञान पतंग सो, मिलि ज्योति समानी हो ॥२॥

सिंधु भरा जल पूरना, सुख सीप समानी हो ।

स्वाति बुन्द सो हेतु है, ऊर्ध्व मुख लगानी हो ॥३॥

नैन स्रवन मुख नासिका, तुम अन्तरजामी हो ।

तुम बिनु पलक न दीजिए, जस मीन अरु पानी हो ॥४॥

व्यापक पूरन दसौ दिसि, परगट पहिचानी हो ।

केसो यारी गुरु मिले, आतम रति मानी हो ॥५॥

इस प्रकार हमने देखा कि रूपक-योजना की परम्परा में सन्तों का महत्त योग ही नहीं मौलिक तथा अमूल्य योग-दान भी है । यद्यपि यह सच है कि इनके रूपकों में वैदिक, औपनिषदिक तथा पौराणिक कवियों का सा शिल्प नहीं है, फिर भी उनकी मौलिकता अर्थ-वक्रता तथा अनोखेपन से इनकार नहीं किया जा सकता ।

१. मलूकदास जी की बानी पृ० १२ (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

२. केशवदास जी की अमीघूँट, पृ० ६ (वेलवेडियर प्रेस प्रयाग)

# सन्त-मत में दैन्य का महत्व

अन्यत्र इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है कि सन्त-मत की साधना अहं के पूर्ण निरसन पर विश्वास करती है। सन्तों की यह सुदृढ मान्यता है कि बिना अहंकार की समाप्ति के अध्यात्म की चरम उपलब्धि असंभव है। सन्तों ने अहंकार से मुक्ति पाने के लिए सतत प्रयास किए हैं। उनके इन प्रयासों के प्रकार इतने विविध और वैयक्तिक हैं कि उनको शृंखला-बद्ध करके वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करना अत्यन्त दुष्कर ही नहीं असम्भव कार्य है। इसका प्रमुख कारण यह है कि योग की प्रक्रिया वैयक्तिक है, सामाजिक नहीं, और इसीलिए प्रत्येक सन्त ने अपने को अहं की कारा से मुक्ति दिलाने के लिए अपने अनुकूल साधन अपनाए हैं। उनके इन साधनों में विभिन्नता है, किन्तु उनके 'अहं' सम्बन्धी विचारों में अद्भुत साम्य प्राप्त होता है। इस अहं से मुक्ति पाने के लिए जहाँ उन्होंने अनेक वैयक्तिक उपचारों का विधान किया है वहाँ उन्होंने एक सामाजिक तत्त्व को भी एकमत से स्वीकार किया है। वह सामाजिक तत्त्व है दैन्य अथवा दीनता। हम इस स्थल पर सन्त-मत में स्वीकृत इस दैन्य पर विशद रूप से प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

साधारणतया दैन्य को अकिंचनता का पर्याय माना जाता है, अर्थात् जिस व्यक्ति के पास धन नहीं है, दरिद्र है उसी को दीन कहा जाता है। निश्चय ही वह भी दीन है, लेकिन सन्तों का दीन इस दीन से आपाततः भिन्न है, सन्त उस व्यक्ति को दीन कहते हैं जो निरभि-

मान हो, जो जगत की किसी भी वस्तु को अपने 'अहं' से न संयुक्त करता हो। सन्तों का दीन लौकिक दृष्टि से अतिशय रूप से ऐश्वर्य सम्पन्न हो सकता है, किन्तु उसका अभ्यन्तर उस ऐश्वर्य से निर्लिप्त होना चाहिए। उसका वह समग्र वैभव ईश्वर का होता है कृष्णार्पण होता है। वह तो उसका प्रसाद रूप में भोग करता है। राजर्षि जनक दीन के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। इस प्रकार का ऐश्वर्य सम्पन्न दीन वासना को त्याग कर वस्तुओं का भोग करता है। कदाचित् इसी को लक्ष्य करता हुआ औपनिषदिक ऋषि कहता है:-

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

( ईशावास्योपनिषद् १ )

अर्थात् संसार में जो कुछ है उस सबमें ईश्वर बसा हुआ है अर्थात् वह सब ईश्वर के द्वारा अच्छादित है। उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर अर्थात् उसका त्याग-भाव से भोग कर : किसी के धन की इच्छा न कर ।

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि व्यक्ति को चाहिए कि जगत की वस्तुओं का भोग वासना-भाव से न करे। वह अपने अहं को उनके साथ नियोजित न करे। उसका मन सर्वथा वस्तुओं के प्रति असंपृक्त रहना चाहिए। सन्तों का दैन्य भी प्रायः उपर्युक्त मंत्र से पूर्णतया साम्य रखता है। सन्त-मत में प्रवेश पाने के लिए दैन्य की इस भावना के होने की पहली शर्त है। सन्तों के विचार से जो व्यक्ति दीन नहीं है, उसे 'अहंकार' की प्राप्ति नहीं हो सकती, जो सन्तों की साधना का चरम है। सन्तों ने इस दैन्य की प्राप्ति के लिए अनेक विधान किए हैं, जो बाह्य और अभ्यन्तर जीवन की दोनों प्रणालियों के चारों खूट घेरे हुए हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सन्तों ने इस दीनता की प्राप्ति के लिए अनेक विधि प्रयास किए हैं। उनका यह मत है कि मनुष्य को अहंकार अपने ऐसे स्थूल और सूक्ष्म रूपों में आवेष्टित किए हुए है कि व्यक्ति यह जान ही नहीं पाता कि वास्तव में वह अहंकार संयुक्त है या नहीं। उसे तो इस बात का अनुभव तब होता है, जब उसके उस अहंकार पर कोई आघात होता है। उनका यह कहना है कि मान लीजिए किसी व्यक्ति को कोई वस्तु अत्यन्त प्रिय है; किन्तु अत्यन्त नैकट्य प्राप्त होने के कारण उसे इसका आभास नहीं हो पाता। परन्तु इसके नष्ट हो जाने या खो जाने पर उसे अत्यन्त दुख होता है और तभी उसे ज्ञात होता है कि वह कितना अधिक उस वस्तु का अभिमानी रहा है। इसी प्रकार अहं के स्थूल-सूक्ष्म और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो साधक के साधना-मार्ग में आत्यन्तिक रूप से बाधक हैं। अहं और दम्भ के इस महान दैन्य ने किसी को भी नहीं छोड़ा। लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में मानव की प्रगति को रोकने में इससे अधिक सक्षम और कदाचित् ही कोई मानसिक वृत्ति हो। सन्त पलटू ने अपने निम्नलिखित कुण्डलिया के अन्तर्गत दैन्य की महिमा इस प्रकार स्वीकार की है:-

सन्तन के सिर ताज हैं सोई सन्त होई जाय ॥

सोई सन्त होइ जाय रहे जो ऐसी रहनी ॥

मुख से बोलै साच करै कुछ उज्जल करनी ॥

एक भरोसा करै नहीं काहू से मांगे ॥

मन में करै सन्तोष तनिक न कबहूँ लागे ॥

भली बुरी कोउ कहै ताहि सुन नहि मन माखै ॥

आठ पहर दिन रात नाम की चरचा राखै ॥

पलटू रहै गरीब होय भूखे को दे खाय ।

सन्तन के सिर ताज है सोई सन्त होइ जाय ॥\*

इस कुंडलिया के अन्तर्गत सन्त पलटू साहिब ने श्रेष्ठ सन्त के लक्षण और उसकी रहनी ( रहन-सहन ) के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं । उनके मत से उसे सत्यवादी और सुकर्म करने वाला तो होना ही चाहिए, साथ ही उसे दीन और सन्तोषी भी होना चाहिए । उनका कहना है कि साधक का अपने इष्ट के प्रति अनन्य भाव होना चाहिए । और कुंडलिया की इसी अर्द्ध पंक्ति में और अगली पंक्ति में उन्होंने अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है । उनका कहना है कि किसी की कोई बात मन में नहीं लगनी चाहिए । चाहे कोई उसे अच्छा कहे या बुरा किन्तु उसके मन में प्रसन्नता-विषाद नहीं होना चाहिए । सन्त पलटू का कहना है कि इस मानसिक दैन्य का गहरा सम्बन्ध वाह्य अकिंचनता से है, इसलिए उसे कुछ भी संग्रह न करना चाहिए अर्थात् अपरिग्रही रहना चाहिए । यदि उसे कहीं से भोजन-सामग्री प्राप्त हो जाय तो अपने भोजन के दंभ को नष्ट करने के लिए किसी भूखे व्यक्ति को उसमें से देकर फिर खाना चाहिए ।

सन्त पलटू का उपर्युक्त कुंडलिया से यह अभिमत प्रतीक होता है कि अहं भावना साधक की आध्यात्मिक उन्नति में सबसे अधिक

\*पलटू साहिब की बानी पृष्ठ ११ कुंडलिया २७ (वेलवेडियर पिंटिङ्ग वर्क्स, इलाहाबाद)

बाधा पहुँचाने वाली है। उसके अनेक रूप हैं, चाहे उसे दंभ कहो, चाहे पाखण्ड; चाहे अहंकार कहो या घमण्ड; चाहे दर्प और गर्व कहो, चाहे स्वाभिमान। अहं के इन सभी रूपों से मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य दैन्य की शरण में जाय, अपने को धूलि-कण से भी तुच्छ समझे। मानापमान के द्वैत से छुटकारा तभी मिल सकता है, जब व्यक्ति वास्तविक रूप में दीन बने गरीब हो जाय।

सन्त 'चरनदास' जी दैन्य की प्राप्ति के लिए गुरु को पूर्ण समर्पण करने को कहते हैं। गुरु को बिना वाह्य और अभ्यन्तर विकारों का समग्र समर्पण किए हुए वास्तविक दीनता नहीं प्राप्त हो सकती। और साधक को बिना पूर्ण निरभिमानता के कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकता। सन्त चरनदास कहते हैं :—

गुरु के आगे राखे माथा । कहै पाप दुख मेटो नाथा ।  
 मैं आधीन तुम्हारो दासा । देहु आपने चरनन बासा ।  
 यह तन मन लै भेंट चढ़ायो । अपनी इच्छा कुछ न रह्यो ॥  
 जो चाहै सो तुमही करो । या भांडे में जो कुछ भरो ।  
 भावे धूप-छाँह में डारो । भावै बोरो भावै तारो ।  
 गुन-पौरुष कुछ बुधि नहि मेरी । सब बिधि सरन गही प्रभु तेरी । १  
 इस प्रकार गुरु की कृपा से निरभिमान अथवा दीन होने के पद-  
 चात् ही 'आपा' न रहने पर साधक 'ततसार' ( उसी की तरह ) हो  
 जाते हैं ।

जिनका आपा ना रहा, भये रूप ततसार ।

सतगुरु के मारे मुए, बहुरि न उपजै आय ।

चौरासी बन्धन छुटैं, हरिपद पहुँचै जाय । २

चौरासी लक्ष योनियों का भ्रमण अर्थात् आवागमन का चक्र गुरु

---

१ चरनदास की बानी पृष्ठ ३ ( वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग )

२        "        "        ३

की कृपा से ही छूट सकता है; और गुरु तभी कृपा करेगा जब साधक अपने योग-श्रेम का भार उसे सौंप कर पूर्ण रूपेण निरभिमान अथवा दीन बन जायेगा। सन्त चरनदास इसी प्रसंग में इस मान्यता की पुष्टि अगली पंक्तियों में इस प्रकार करते हैं :—

गुरु के आगे जाय करि, ऐसे बोलै बोल ।

कछू कपट राखै नहीं, अरज करै मन खोल ॥

यह आपा तुमकूँ दिया जित चाहौ तित राखि ।

चरनदास द्वारे परो, भावै झिड़कौ लाखि ॥ १

इस प्रकार बिना अभ्यन्तर की समग्र भावनाओं के निरसन के सन्त-मत के अनुसार कोई दीन नहीं हो सकता। सन्तों की यह दीनता बिना ऐन्द्रिक-वासनाओं के पूर्ण सयम के प्राप्त नहीं हो सकती। सन्त चरनदास ने 'इन्द्रियों का वर्णन' शीर्षक स्तंभ में अपनी बानी में इसका विशदता के साथ उल्लेख किया है। 'नान्हापन' बिन इन्द्रिय विकारों पर पूर्ण वश पाए नहीं प्राप्त हो सकता। सन्त चरनदास का मत है; कि

“नान्हापन तब आय हैं, छूटै सकल विकार । २

सन्तों के मत से 'नान्हापन' अर्थात् दैन्य की प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इस 'नान्हापन' के मार्ग की बाधाओं का उल्लेख करते हुए एक सन्त ने कहा है :—“धन मद, बल मद, रूप मद, विद्या मद ये चारि। भव सागर के बारि में पकरि देति हैं डारि।” अर्थात् धन, बल रूप और विद्या का अहंकार चतुष्टय ही दैन्य का सबसे प्रबल शत्रु है। सन्त चरनदास ने अपनी बानी के 'अहंकार' शीर्षक स्तंभ में इसका विस्तार से वर्णन किया है। उनकी बानी से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा

रही हैं। वे अहंकार या अभिमान के अनर्थों अथवा दोषों का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

अभिमानी चढ़िकर गिरे गए बासना माँहि ।

चौरासी भरमत भए, बबहीं निकसै नाहि ॥

अभिमानी मीजे गए, लूट लिए धन बाम ।

निर अभिमानी हो चले, पहुँचे हरि के घाम ॥

चरनदास यों कहत हैं, सुनियों सन्त सुजान ।

मुक्ति मूल आधीनता, नरक मूल अभिमान ॥

मन में लाय बिचार कूँ, दीजै गर्व नकार ।

नान्हापन तब आय है, छूटै सकल विकार ॥१

अधीनता, नम्रता अथवा दैन्य के आए बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। कहना तो यह चाहिए कि बिना दैन्य के लौकिक अथवा पार-लौकिक कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस अहंकार के मूल के विषय में ऊपर उल्लेख किया गया है कि इसका आयाम धन, बल, रूप और विद्या मर्दों तक फैला हुआ है। सन्त चरनदास की बानी में इनका भी विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। उनकी बानी के उपर्युक्त 'अहंकार' शीर्षक स्तंभ से इन विकारों पर यत्किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है :—

‘रूपवन्त गरबावै । कोइ मो सम दृष्टि न आवै ॥

तरुनापा गर्वाना । वह अँधरा होवै राना ॥

कहै धन-मद में परबीना । सब मेरे ही आधीना ॥

कहै कुल अभिमानी सूचा । मैं सब जातिन में ऊँचा ॥

वह विद्या गर्व जो भारी । करै बाद-विवाद अनारी ॥

अरु भूप करै अभिमाना । उन आपै हीं कूँ जाना ॥

उन काल नहीं पहिचाना । सो मार करै घमसाना ॥१

अर्थात् रूप, धन, बल, विद्या और अभिमान के मद में मानव उन्मत्त रहता है। वह इस को आमरण लाँघ नहीं पाता और इसी कारण उसे दैन्य की प्राप्ति नहीं होती और फल-स्वरूप वह मुक्त नहीं पाता। अन्य अहंकारों का शमन तो कदाचित् अपेक्षाकृत शीघ्र ही हो जाता है किन्तु विद्या-मद सर्वाधिक दुर्लब्ध है। इस विद्या-मद का एक स्वरूप वाद-विवाद है। इस वाद-विवाद का अधिष्ठान तर्क है। तर्क ही पर यदि मानव जन स्थित रहे तो कदाचित् उसे सही मार्ग अथवा वास्तविक तत्त्व का पता चल सकता है। किन्तु, वह अवसरानुकूल वितंडा और कुर्तक का भी सहारा लेता है और इसीलिए वह विषय से दूरस्थ होता हुआ तत्त्व-च्युत हो जाता है परिणाम यह होता है कि वह अपने विपक्षी को अपने इस चातुर्य से परास्त करके दंभ और अहं-कार में आकंठ मग्न हो उठता है। और इस प्रकार वह दैन्य-भाव से कोसों दूर हो जाता है यह निष्कर्ष तो विद्या-मद के एक स्वरूप का है। विद्या के अन्य स्वरूपों जैसे अनेक भाषाओं के विद्वान् होने का अभिमान, अनेक पुस्तकों के पठन का अभिमान, अनेक पुस्तकों के प्रणयन का अभिमान, विद्या का स्मृति में सर्वाधिक उपस्थित होने का अभिमान, तथा वाग्मिता का अभिमान, ये सभी विद्या-मद एक से एक विकराल और दुर्लब्ध हैं। व्यक्ति के मन पर इनके लेशमात्र प्रभाव से ही अहंकार स्वाभाविक रूप से आ जाता है। और अहंकार तथा दैन्य का तो तीन-छै का सम्बन्ध है।

संत चरनदास के अतिरिक्त अन्य सन्तों ने भी दैन्य की महत्ता पर

बड़ा बल दिया है। तुलसी साहब हाथरस वाले भी अपनी बानी के एक स्थल पर 'अहंकार' और मानापमान के विकार पर प्रकर्ष देते हुए कहते हैं :—

इंद्री सुख स्वाद रस-रंगा । विषय बास नाम के संगे ॥

खान और पान पोसाका । इसका बदवास दुख स्वासा ॥

तृया रस भोग में राजी । फिरत बेफहम बस माजी ॥

सेज नित साज करि सोता । काल नित स्वास को जोता ॥

बड़ाई मान को चाहै । विषय विष रैन दिन खावै ॥

सुकृत की बात नहि भावै । कुंफर दिन रैन रस जावै ॥ \*

अर्थात् मानापमान का भाव बिना ऐंद्रिक सुखों का परित्याग

किए समग्र रूप से नहीं छूट सकता। इन्द्रियों के यह विकार खान-पान, वस्त्र परिधान, स्त्री अनुराग, शय्या अलंकरण और मान-अपमान जाने कितने ही रूपों में फैला हुआ है। इनमें से एक ही इस बात में समर्थ है कि वह व्यक्ति के दंभ और गर्व को जागृत करके दैन्य भाव से रिक्त कर दे, किन्तु मानव में तो ये सब भाव एक साथ ही प्राप्त होते हैं। इसलिए 'कुफ्र' से बिना मुक्ति पाए, वह किस प्रकार अपने सहज-स्वरूप में स्थित हो सकता है, जो निश्चय ही सर्व विकार-रहित दैन्य का मूर्तिमान रूप है (Egoless Form)

दैन्य की इस प्राप्ति के लिए अहंकार का पूर्ण रूप से नष्ट होना अन्य देशों के संत भी स्वीकार करते हैं। फारस के सन्तों के विषय के एक ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'मुस्लिम सन्तों का चरित' नाम से श्रीगोपाल नेवटिया द्वारा किया गया है। उस ग्रन्थ में ऐसे अनेक चरित्र हैं, जिनमें दैन्य-प्राप्ति के लिए साधकों ने अपने अहंकार को नष्ट करने के अनेक विधि प्रयास किए हैं। उसी ग्रन्थ में से एक चरित्र का सारांश इस प्रकार है :—दो सन्त दूर-दूर स्थानों में रहते थे। दोनों ने एक दूसरे की तपश्चर्या और सिद्धि के

---

\* तुलसी साहब की बानी पृष्ठ १८ (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

विषय में ख्याति भी सुनी थी। किन्तु, अभी तक उन्होंने एक दूसरे का साक्षात्कार न किया था। उनमें से एक सन्त को दूसरे के दर्शन की इतनी प्रबल इच्छा हुई कि वह अपने स्थान से दूसरे सन्त से मिलने के लिए चल पड़ा। जब उस सन्त को यह मालूम हुआ कि दूसरा बहुश्रुत सन्त उनसे मिलने के लिए आया है, तो उन्होंने उसका बड़ा सत्कार किया। दिन से लेकर सारी रात सत्संग चलता रहा। प्रातः जब आगत संत जाने लगे तो उन्होंने आतिथेय संत से कहा, भाई, बड़ा आनन्द रहा, रात सत्संग में बीती। ये सत्संग के क्षण कितने दुर्लभ होते हैं।” छूटते ही अतिथेय संत ने कहा, “भाई बड़ा बुरा समय बीता। आप इसे सत्संग कहते हैं। रात भर आप अपने सिद्धान्त के निरूपण के लिए तर्कों की खोज में व्यावृत रहे, और मैं अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए तर्कों के अन्वेषण में सतर्क रहा। भाई, इस समय तक हम ईश्वर से बिल्कुल दूर रहे और ईश्वर का स्मरण ही वास्तविक सत्संग है। क्योंकि ईश्वर ही वास्तव में सत् और उसकी चर्चा, अर्चा तथा ध्यान ही वास्तविक सत्संग है। अपने पक्ष के समर्थन में तर्कों का आश्रय लेने से हम बौद्धिक विलास में पड़कर अहं सम्पृक्त हो गए थे। हमें इसका अनुभव नहीं हो पा रहा है क्योंकि यह अहंकार का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है।” दूसरे सन्त के तो मानों नेत्र ही खुल गए। वह उन्हें प्रणाम करके चला गया। इसी प्रकार अन्य ब्रह्मज्ञानी मुस्लिम संतों के चरित्र देखे जा सकते हैं, जिन्होंने अपने अहंकार को नष्ट करने के सभी प्रयास किये थे।

निश्चय ही सन्तों को अहंकार के इस भयंकर स्वरूप का पूर्ण परिज्ञान था। इसीलिए उन्होंने बारंबार इससे मुक्ति पाने के विषय में लिखा है। वे जानते थे कि अहं की श्रृंखला से बिना मुक्ति पाए, दैन्य नहीं प्राप्त हो सकता और बिना दैन्य-प्राप्ति के अपने स्वरूप का ज्ञान अथवा आत्म-लाभ स्वप्न की ही वस्तु है। दयाबाई ने अपनी

बानी के "साध लक्षण" शीर्षक स्तम्भ में वास्तविक साधु की परिभाषा करते हुए व्यंजना से अहंकार-निरसन की ओर भी संकेत कर दिया है :—

साध सोई जो काया साधै । तजि आलस और वादविवाद ॥  
गहै धारना सब गति भारी । तजै विकलता अस्तुति गारी ॥  
छिमावन्त धीरज कूँ धारै । पांचा बस करि मन कूँ मारै ॥  
त्यागे झूठ सांच जग बोलै । चित स्थिर इत उत ना डोले ॥  
तन जग में मन हरि के पासा । लोक भोग सून सदा उदासा ॥  
जत सत नख सिख सीतल ताई । तन मन बचन सकल सुखदाई ॥  
निगुन ध्यानी ब्रह्म गियानी । मुख सून बोलै अमृत बानी ॥  
समझ एकता भाव न दूजे । जिनके चरन सहजया पूजे ॥

×

×

×

निदुन्दी निर्बैरता, सहजो अरु निर्वास ।  
सन्तोषी निर्मल दसा, तकै न परकी आस ॥  
ज्ञान मध्य इस्थिर दसा, ध्यान मध्य गलतान ।  
सहजो साधू राम के, तजै बड़ाई मान ॥

×

×

×

दीर्घ बुद्धि जिनकी महा, सील सदा ही नैन ।  
चेतनता हिरदै बसै, सहजो सीतल बैन ॥  
तन कूँ साधे ही रहैं; चित कूँ राखै हाथ ।  
सहजो मन कूँ यों गहै, चलै न इन्द्रिय साथ ॥\*

सहजोबाई के उपर्युक्त उदाहरण में, जिसमें वास्तविक साधु के लक्षणों का वर्णन किया गया है, उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं । उदाहरणार्थ साधु को चाहिए कि वह वादविवाद न करे, क्षमाशील और धैर्यवान बने, पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में करके मन को

शान्त करे, सांसारिक भोगों से उदासीन रहे, अपने सर्वांग में नम्रता धारण करे और सुखदायक वाणी बोले । उसके मन में एकता का भाव होना चाहिए अर्थात् उसमें द्वेष न होना चाहिए । निर्वन्द निर्वेद निष्काम और सन्तोषी भी होना साधु के लिए आवश्यक है । सहजो के साधु विषयक इस वर्णन में प्रायः उन्हीं बातों का चेतावनी पूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है, जो मुख्यतया अहं मूलक हैं । उदाहरण के लिए पांचो इन्द्रियों को अवाध छोड़ देने से मन एकाग्र करना कितना असंभव कार्य है, इससे सभी भली भांति परिचित हैं । और वाद विवाद के द्वारा प्रायः किसी वास्तविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता, वरन् इससे अत्यन्त क्षुद्र अहं की उत्पत्ति होती है जो मानव को पथ भ्रष्ट करके तत्व-च्युत कर देती है साथ ही अपने पक्ष के समर्थन के कारण इन वादों के द्वारा कलह की भी संभावना है, जो मानव-मन को विकल करके उसे द्वैत में अधिष्ठित कर देती है, जिसके कारण वह ईर्ष्या-द्वेष आदि निम्न कोटि के भावों से भर जाता है जिससे शान्ति और दैन्य का कितना महनीय विरोध है, बतलाने की आवश्यकता नहीं । सन्त सहजो की दृष्टि निश्चय ही वाद-विवाद के इन सभी विग्रहों की ओर गई है । सहजो के अनुसार विनयी, क्षमाशील दैन्य भाव-सम्पन्न वही व्यक्ति हो सकता है, जिसका हृदय विशाल हो । उदारता (Generosity) अध्यात्म की पहली शर्त है । और यह उदारता बिना द्वैत के नष्ट हुए बिना विनय संपन्नता आए, बिना दैन्य-भाव मन में अधिष्ठित हुए किसी प्रकार संभव नहीं । और न इसके बिना कोई निर्वैर हो सकता है । और न सन्तोष रूपी धन को ही प्राप्त कर सकता है जिसको संतों ने मुक्त-कंठ से सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु के रूप में स्वीकार किया है । \* दीन का यहो अलौकिक धन है । और इसके प्राप्त करने

---

\* जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान ।

के लिए उसे संसार में मान्य संपत्ति के सभी रूपों को छोड़ना पड़ेगा । दूसरे शब्द में उसे संसारिकता से बिमुख होना पड़ेगा, जो द्वैत की जननी है, जिसके फलस्वरूप मानव मन कलह आदि विकारों का आधार बनकर वास्तविक तत्त्व से वियुक्त हो जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, उनकी स्थूल तालिका इस प्रकार है:—

- (१) अहंकार मानव मन को दैन्य-भाव में नहीं अधिष्ठित होने देता
- (२) अहंकार की व्याप्ति की सीमा नहीं है ।
- (३) अहंकार को हम स्थूल रूप से दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बाह्य तथा (२) अभ्यन्तर ।
- (४) अहं के बाह्य स्वरूप की व्याप्ति संक्षेप में रहन—सहन भोजन, लिप्सा और स्वाद, साज—सज्जा अर्थात् समस्त चाक्षुष, कर्ण, जिह्वा, नासिका आदि इन्द्रियों के विषयों में अबाध अनुरक्ति होने पर निर्भर करते हैं ।

(२) अभ्यन्तर अहं का स्वरूप बाह्य से अधिक सूक्ष्म है । इस विकार को मानव सहज ही नहीं अवगत कर पाता । उदाहरण के लिए कोई महान वक्ता है । उसे अपनी इस कला के अभिमान का ज्ञान तब तक नहीं हो पाता, जब तक उसके तर्कों को उससे अधिक वक्तृत्व कला वाला खंडित नहीं कर देता । अपने तर्कों के खंडित होने के पूर्व तक वह अपने को जनसेवक परोपकारी के रूप में ग्रहण करता है । बहुत से ऐसे भी व्यक्ति देखे गये हैं, जो व्याज-स्तुति की परिखाओं से अपने को अछूता समझते हैं । उन्हें यदि तनिक भी चापलूसी की गन्ध मिली तो उनकी सहज प्रसन्न-मुद्रा भयंकर क्रोध में परिवर्तित हो जाती है । किन्तु यदि कोई व्याज से उनसे कहे कि मुझे अपनी जानकारी में आपके अतिरिक्त कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं

मिला, जो चापलूसी न पसन्द करता हो" तो वे भीतर ही भीतर आनन्दातिरेक से उछलने लगते हैं और उनका वह आभ्यन्तरिक आनन्दातिरेक बड़ी कोमल और मृदु बाणी में प्रस्फुटित होता है। इससे आप की कार्य सिद्धि निश्चित हो जाती है। साधक को अपने उत्तम साधन का, अपने कर्म-काण्ड और योग की उपलब्धियों का अभिमान हो जाता है और वह दूसरे को तुच्छ समझने लगता है। इसी प्रकार के विकारों को अभ्यन्तर अहंकार के अन्तर्गत समझना चाहिए।

(३) इन दोनों-वाह्य और अभ्यन्तर-अहं विकारों से बिना मुक्त पाये कोई भी दैन्य रूपी अलभ्य और चिरस्पृहणीय धन का धनी नहीं हो सकता। और जब तक मानव मन समग्र रूप से दैन्य भाव पर अधिष्ठित नहीं होता उसे अध्यात्म की चरम् उपलब्धि तो दूर की बात है वह उसके प्रथम सोपान पर भी पदक्षेप करने का अधिकारी नहीं है।

सन्तों को अहं के इन विविध विकारों की पूर्ण जानकारी थी। उन्हें अपनी साधना के प्रथम सोपान में ही यह अनुभव हुआ कि वे अपने समस्त विकारों को लेकर कदाचित् ही अध्यात्म शिखर पर पहुँच सकें। अतएव उन्होंने इन विकारों पर विजय पाने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का सम्बल लिया। उनके ये साधन भी वाह्य और अभ्यन्तर दो श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं। वाह्य अहंकार के संयम के लिए उन्होंने वाह्य आर्कषणों की अनुरक्ति से अपने मोह को हटाने का प्रयास किया। उदाहरणार्थ स्वादेन्द्रिय को संयमित करने के लिए उन्होंने भोजन को कम किया, उसके स्वाद को मारने के लिए मीठा-तोता, अम्ल-कटु सभी को एक साथ मिलाकर खाने लगे। एक साधु हरिदास ( जो रायबरेली जिले

के रहने वाले थे ) के विषय में कहा जाता है कि उन्हें आम बहुत पसन्द थे । और वे गांव के सम्पन्न व्यक्तियों में से एक थे । उनके पास उत्तम आमों की कई बागें थीं और वे खूब फलती भी थीं । किन्तु, साधु होने के पश्चात् उन्होंने कदाचित् ही आम खाए हों । वे सभी आम जनता में बांट देते थे । यदि उन्हें कभी आम खाने की इच्छा हांती थी, तो वे आम की ढेरी के पास खड़े होकर अपने मन को सम्बोधित करते हुए कहते थे, “बदमाश आम खाने की इच्छा कर रहा है ? इन मीठे सुस्वादु आमों पर तेरा अनुराग बढ़ रहा है । और तू मुझे प्रभु चरणों की अनुरक्ति से विलग कर रहा है । पर मैं ऐसा कभी न होने दूंगा ।” और वे देखते ही देखते सभी आम बांट देते थे । इसी प्रकार परिधान के अहंकार को मिटागे के लिए सन्तों ने केवल कोपीन और उत्तरीय पहनना प्रारम्भ किया और कोई-कोई तो दिगम्बर ही हो गए अपने सुन्दर कण्ठ से अभिमान को भंग करने के लिए उन्होंने सस्वर गान ही बन्द कर दिया । वक्तृत्व कला के अभिमान को समर्पित करने के लिए उन्होंने सभाओं में प्रवचन देने की तो बात ही क्या मौन और काष्ठ मौन जैसी कठोर साधनाएँ भी कीं । मौन और काष्ठ मौन की साधनाएँ उनके अम्यन्तर अहं के शमन की साधनाएँ हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा का स्वर मौन है और वैखरी से अधिक प्रभावशाली तथा अमोघ व्याख्यान मौन का होता है । और इस प्रकार वे अहं के अम्यन्तर और बाह्य विकारों से मुक्त होकर दैन्य भाव में अधिष्ठित हुए और सहज समाधि ऐसी अध्यात्म की उच्च स्थिति को प्राप्त किया । इस प्रकरण के उपसंहार में केवल यही कहा जा सकता है कि अहं तथा दैन्य सम्बन्धी समग्र वर्णन से यही सिद्ध होता है कि अभ्युदय और निःश्रेयस् की उपलब्धि तभी हो सकती है जब मन पूर्णरूपेण दैन्यभावापन्न हो जाय । सभी सन्तों की वानियों की यही गवाही और निष्कर्ष है ।

# सन्त-काव्य में सामाजिकता अथवा प्रेषणीयता

सन्तों के विषय में बहुधा लोगों को यह कहते सुना जाता है कि उनकी साधना में प्रेषणीयता और सामाजिकता का अभाव है। उनकी यह साधना सर्वथा वैयक्तिक घरातल पर ही स्वीकार की जा सकती है, और इसी कारण समष्टि के द्वारा स्वीकृत न होने के कारण इसमें प्रेषणीयता नहीं है, और इसके फलस्वरूप वे समाज का व्यापक हित करने में सर्वथा अक्षम है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि योग की कोई भी पद्धति पूर्णरूपेण न तो तथाकथित वैज्ञानिक घरातल पर लाई जा सकती है, और न सर्वथा लौकिक स्तर पर समझी जा सकती है। क्योंकि लोक अथवा भौतिक उपलब्धियों की चरमावस्था के पश्चात् योगिक अथवा आध्यात्मिक प्राप्तियों का प्रारंभ होता है। लौकिक अथवा भौतिक उपलब्धियों में सर्वाधिक योग-दान बुद्धि का होता है और आध्यात्मिक उपलब्धियां अनुभव के स्तर पर ही संभव है, जहां बुद्धि का प्रवेश एक सीमा तक ही है। इसके अतिरिक्त एक और भी कारण है, जो योग-प्रक्रिया अथवा किसी ललित कला को सार्वजनिक नहीं बनने देता। वह है व्यक्ति के अधिकारी होने का प्रश्न। भौतिक विषय भी जिनका कम से कम प्रारम्भिक रूप तो भौतिक ही होता है (यह दूसरी बात है कि अपने चरम विकास पर वे आध्यात्मिकता का संस्पर्श प्राप्त कर लेते हैं) अधिकारी की पेशा रखते हैं। उदाहरणार्थ हम 'चित्रकला' अथवा अन्य कोई कला ले

सकते हैं उच्चकोटि का कलाविद् किसी व्यक्ति को अपनी कला में दीक्षित करते समय उसमें उक्त कला-सम्बन्धी उत्कट अभिरुचि, तथा अन्य प्रारम्भिक योग्यताओं (Aptitude) को देखता है, और हर प्रकार से आश्वस्त हो जाने पर ही उसे अपनी कला में दीक्षित करता है। योग्यता अथवा अधिकारी होने का प्रश्न स्कूली हुनरों से सूक्ष्म कक्षाओं में अधिक अनिवार्य होता जाता है। आध्यात्मिक साधनाओं का स्वरूप अपने विषय की सूक्ष्मता में चरम है। बैसे तो अधिकारी के हाथ में पहुँचकर कोई भी कला देश अथवा राष्ट्र का सर्वाधिक अहित कर सकती हैं। इसके उदाहरण के लिए इस प्रसंग में नारद का बहुश्रुत दृष्टांत अप्रासंगिक न होगा। कहा जाता है, नारद को संगीत के प्रभाव और उस कला की समग्र जानकारी न होने के कारण वे प्रातः के राग को सायंकाल और अपरान्ह के राग को रात्रि में गाया करते थे। इसके परिणामस्वरूप राग-रागिनियाँ खंडित हो गईं और वातावरण एक विशेष प्रकार का हो गया, जिसमें एक साथ करुणा, शौर्य, प्रेम, विभीषिका आदि के खंडित स्वरूपों का आभास होता था। एक दिन प्रातः नारद अपनी वीणा में रात्रि की किसी रागिनी को बजाते हुए जा रहे थे कि मार्ग में उन्होंने अनेक स्त्रियों का सामूहिक श्रन्दन सुना। निकट जाकर उन्होंने उन स्त्रियों को देखा तो उन्हें आश्चर्य के साथ बड़ा दुख हुआ। क्योंकि उन स्त्रियों का सुन्दर और सुगठित शरीर क्षत-विक्षत हो रहा था। नारद ने उनकी यह दुःखद दशा देखकर करुणाद्रं होकर पूछा, 'ऐ देवियो तुम कैसी हो और तुम्हारी यह दशा किसने की है?' उन स्त्रियों ने बड़ी करुणामयी वाणी में उत्तर दिया, हम सब राग-रागिनियाँ हैं, और हमारी यह दशा नारद नाम के मुनि ने की है, जो समय-असमय हमें गाता है जिसके फलस्वरूप हमारी यह दुर्गति हो रही है।' नारद ने उनसे आदेश पाकर तुम्बुरु गंधर्व से विधिवत् संगीत की शिक्षा ली। नारद के प्रसंग में तो यह कहा

सकता है कि उन्होंने कला का दुरुपयोग स्वतः संगीत सिद्ध होने के गर्व के कारण किया। किन्तु कला के प्रति लोगों की धारणा प्रायः नारद के समान स्वतः सिद्ध बनने में ही है। अनधिकारी को शक्ति मिल जाने पर वह उसका दुरुपयोग ही करेगा। क्योंकि सांप को दूध पिलाने से वह अधिक विषयुक्त हो जाता है। अन्य कक्षाओं में प्रवेश पाने के समान कुछ योग साधना की भी शर्तें हैं। उन शर्तों या नियमों का बिना पालन किए हुए कोई भी योग के मार्ग में एक कदम भी नहीं चल सकता। उन शर्तों में पहली है भोजन की तथा दूसरी निरभिमान होने की। योग के प्रति पूर्ण आस्था और उत्कट अभिलाषा होना तीसरी शर्त है। जाहिर है कि बहुसंख्यक लोग इस परिधि के अन्तर्गत नहीं आ सकते। इसलिए योग का समूहगत प्रचार संभव नहीं और इसी कारण वह गोपनीय रखा गया है। यहाँ तक कि बिना उत्कट अभिलाषा के पति अपनी पत्नी को पिता अपने पुत्र को योग की दीक्षा नहीं दे सकता, नहीं देता।

किन्तु, सिद्धों और योगियों की उपर्युक्त योग-सम्बन्धी गोपनीयता से यह नहीं सिद्ध होता कि उनमें लोक-हित की भावना ही नहीं थी या वे अपने मन को प्रेषणीय नहीं बनाना चाहते थे। वे सभी को योग दीक्षित करना चाहते थे। किन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सभी योगी नहीं होना चाहते थे। क्योंकि योग की प्रारम्भिक शर्तों का निर्वाह उनके लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। प्रेषणीय का प्रश्न इसलिए नहीं उठता क्योंकि जैसा कि हमने ऊपर कहा है, बहुत सी ऐसी चीजें हैं, जिन्हें व्यक्ति-गत घरातल पर ही समझा जा सकता है, समष्टि के घरातल पर वे प्रभावहीन हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, औषधि, मंत्र आदि को लिया जा सकता है। औषधि और मंत्र को बता देने से उनका समुचित प्रभाव नहीं होता। वे बहुत सीमा तक प्रभावहीन हो जाते हैं।

अधिक प्रेषणीय या जिस रूप में प्रेषणीयता की मान्यता है, योग के न होने का एक और भी कारण है। संसार में प्रायः दो प्रकार के प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीनों ने उनका विभाजन ब्रह्मकोटि के जीव तथा ईश्वर कोटि के जीव के वर्गों में किया है। ब्रह्मकोटि के जीव या प्राणी वे होते हैं, जिनका मन प्रारम्भ से ही इतने ऊँचे घरातल पर होता है कि सांसारिक विषयों के प्रति तनिक भी अनुरक्ति नहीं होती। वे समग्र रूप से आध्यात्मिक होते हैं और उनका मन योग के अनेक विग्रहों में अधिक रमता है। दूसरे प्रकार के वे प्राणी होते हैं (और जिनकी संख्या अधिक है) जिनका मन सांसारिक विषयों में अधिक आसक्ति दिखलाता है। वे बड़े लोक-संग्रही होते हैं। ईश्वर कोटि अथवा लोक-संग्रही प्राणियों के कार्य-कलाप को सारे विश्व में फैला हुआ देखकर लोग उनसे अधिक प्रभावित होते हैं। उनके अनुयायी भी अधिक संख्या में होते हैं। उनके कार्य-कलापों का परिणाम भी लोक में अधिक प्रभाव रखता है। और प्रकट रूप से अधिक लाभप्रद भी दृष्टिगोचर होता है। महात्मा गाँधी इसी प्रकार के व्यक्तियों के आदर्श उदाहरण है। ब्रह्मकोटि के प्राणियों का कार्य एक सीमित वृत्त के अन्तर्गत होने तथा नियमों-संयमों की कड़ी पाबंदी होने के कारण वे सभी के लिए आकर्षण के विषय नहीं हो सकते और इसी कारण योग-शिक्षा की संस्थाओं का उल्लेख आज तक नहीं सुना गया। श्री अरविन्द घोष, महर्षि रमण आदि महात्मा ब्रह्मकोटि के अन्तर्गत परिगणित किए जाने चाहिए। संसार में इन दोनों प्रकार के प्राणियों की आवश्यकता है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक भौतिकता के माध्यम से सामूहिक रूप में आध्यात्म के छोरों को छूने का प्रयास करता है और दूसरा अपनी 'महतो महीयान' स्थिति को छोड़कर लोकहित के लिए सांसारिक संस्पर्श करता है, और सांसारिकता में निम्न प्राणियों को उठाकर सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्व के साक्षात्कार में प्राण-पण से सहायता करता है।

यद्यपि प्रत्यक्षतः योगी की साधना का प्रभाव समाज अथवा राष्ट्र के अभ्युदय पर पड़ता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि उसकी साधना का वृत्त सीमित नहीं असीम है। उसका दृष्टि-कोण संकुचित नहीं विशाल है इसलिए उसकी साधना का प्रभाव उस विशेष देश के वातावरण को ही नहीं, जिसमें वह उत्पन्न हुआ है, प्रभावित करता है, वरन् समग्र संसार पर उसका प्रभाव समान रूप के पड़ता है। हमारे उपर्युक्त वक्तव्य को 'होमियो पैथी' की अधिक शक्ति संपन्न औषधियों से समझा जा सकता है, जिनका रोगी पर प्रभाव महीनों की अवधि में होता है। प्रारम्भ में रोगी उस औषधि से अप्रभावित ही रहता है। ठीक इसी प्रकार कोई योगी विश्व के प्राणियों के अभ्यन्तर को किस प्रकार आध्यात्मिकता में परिवर्तित करता जा रहा है, इसका अनुभव प्रायः तत्काल नहीं होता। यदि ऐसा प्राणी कहीं पर है, तो निश्चय समझिए उस स्थान का वातावरण और उस स्थान में रहने वाले प्राणियों के अभ्यन्तर के वातावरण में वह उनके अनजान में ही परिवर्तन उपस्थित कर रहा है क्योंकि प्रत्येक कर्म का फल होता है और जो परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता, वह भी होता है अर्थात् जो भौतिक नहीं है, वह आध्यात्मिक है यही। कारण है कि सहस्रों वर्षों के पश्चात् मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या-वाराणसी तथा प्रयाग के वातावरण में एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक ताजगी प्राप्त होती है। नैमिषारण्य में आज सहस्रों वर्ष पश्चात् एक घोर संसारी का मन भी थोड़ी देर के लिए अट्ठासी सहस्र ऋषियों और उनके उत्कट तप के विषय में सोचने को बाध्य हो जाता है और उतने समय तक उसका मन अलौकिक आध्यात्मिक सुख का अनुभव करता है। हमारे कहने का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि सन्तों की साधना का स्वरूप सार्वजनिक धरातल पर नहीं हो सकता, किन्तु फिर भी उनकी साधना का प्रभाव सारे विश्व के वातावरण पर पड़ता है। किन्तु चूंकि यह क्रिया अत्य-

धिक स्वभाविक और व्यापक रूप में होती है, इसलिए सहज ही उसके प्रभाव को हम प्रायः अनुभव नहीं कर पाते। आज बुद्ध, कबीर, गाँधी, अरविन्द तथा महर्षि रमन तथा अन्य ऐसे ही अनेक प्रकट-अप्रकट योगी और महात्माओं के तप का प्रभाव है कि हम इस संकटापन्न स्थित में भी शान्त हैं। और यह अपने मानसिक सन्तुलन को अक्षुण्ण रखे हुए हैं। और यह इन्हीं योगियों का प्रभाव है कि हम विश्व को शान्ति का सन्देश देने में सक्षम बने हुए हैं। आज उन्हीं महान विभूतियों की कृपा के फल-स्वरूप विश्व हमारी ओर सतृष्ण दृष्टि से देख रहा है, और मार्ग दर्शन चाहता है।

सन्त यद्यपि अपनी योग-साधना में समष्टि के लिए प्रेषणीय नहीं हो सके और यह सच है कि इसके लिए वे उदासीन भी रहे। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनकी योग-साधना में प्रवेश पाने के लिए अधिकारी होने की शर्त है, और सभी व्यक्ति उनके नियमों को पालन करने में सर्वथा अक्षम हैं। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनकी योग साधना एक सीमा में सिमित जाय। किन्तु, इस सीमा के लिए उन्होंने चेष्टा नहीं की, न ही किसी को उन्होंने उससे वंचित रखा। और इस दृष्टि से हम उनको इस साधना को 'कुटी-धर्म' कह कर लांछित नहीं कर सकते, क्योंकि यह तो हमारी अज्ञानता का परिचायक होगा। साथ ही हम योगियों अथवा सन्तों को असामाजिक प्राणी नहीं कह सकते यद्यपि योग-साधना कभी भी समष्टिगत नहीं हो सकती।

किन्तु, योग-साधना के अतिरिक्त योगी के जीवन का एक अन्य पहलू भी है, जिसमें वह समाज के अत्यधिक निकट संपर्क में आ जाता है। उसका वह क्षेत्र है सेवा और सुधार का। अपने इस क्षेत्र में वह जनता के सर्वाधिक निकट है साथ ही उसके द्वारा समाज का इतना हित होता है कि कदाचित् ही कोई उसका अतिक्रमण कर सके।

समाज अथवा राष्ट्र का सच्चा सेवक वही हो सकता है, जो अपने 'छोटे अह' को नष्ट कर सका हो। जिसके मन में स्वार्थ है वह कोई भी कार्य राम-द्वेष से तटस्थ हो कर संपन्न नहीं हो सकता। और जहां राम-द्वेष है, वहाँ स्वार्थ का प्रतिदान अथवा प्रतिशोध स्वाभाविक हो जाता है। और इस प्रकार हमारा कोई कार्य सेवा की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता। इस प्रकार के कार्य को सेवा नहीं वरन् वणिक-वृत्ति कहना चाहिए। क्योंकि ठीक वणिक-वृत्ति के समान ही, इसमें लेन-देन की भावना रहती है। और जिस कार्य में लेन-देन की भावना रहती है, उसे उदात्त मानसभूमि की कृति नहीं समझना चाहिए। उस समग्र कर्म में संकीर्णता होती है, विशालता का एक-मात्र अभाव होता है। और जो कर्म उदात्त मानस संभूत नहीं है, उसे 'सेवा' जैसी आकर्षक और महनीय संज्ञा देना अशोभन ही नहीं बुद्धि-दारिद्र्य का भी द्योतक है। सन्तों ने अपने जिस ऋजु तथा उदात्त निरहंकार युक्त मानस से समाज तथा राष्ट्र की सेवा की है, उसके मूल्यांकन का प्रयास प्रायः किसी प्रबुद्ध कहे जाने वाले क्षेत्र के द्वारा नहीं किया गया। और हमारा विचार है कि उनकी इस अहेतुकी तथा निःसंकल्प की अमूल्य सेवा का मूल्यांकन किया भी नहीं जा सकता। उनकी यह सेवा प्रायः द्विविध देखी जाती है। प्रथम उपदेशों के माध्यम से तथा दूसरे उनकी लोक सेवा के माध्यम से। उनके उपदेश प्रायः अध्यात्म-परक हैं। उनमें कहीं तो उन रूढ़ियों के ऊपर भयंकर प्रहार किए गए हैं, जिनमें समाज वास्तविकमन्यता के स्वरूप को छोड़कर आडम्बरों पर विशेष प्रकर्ष देने लगा है और कहीं भौतिकता-संभूत अति इन्द्रिय विलास से अनासक्त होने के लिए कशाघात किए गए हैं। सेवा के पहले प्रकार में सन्तों ने जहां आडम्बरों और पाखण्डों से समाज को बचाकर वास्तविक मार्ग-दर्शन तथा जीवन के सही मूल्यों के संस्थापन की चेष्टा की है तो दूसरे प्रकार में उन्होंने अति भौतिकता अथवा इन्द्रिय-विलास को अनुचित बतलाकर अध्यात्म-मार्ग की प्रतिष्ठा की है।

इसके पहले कि हम सन्तों के इन दोनों समष्टि-गत अथवा सामा-  
जिक कर्मों की साक्षी उनकी बानियों से उपस्थित करें, हम इस स्थल  
पर सन्तों के ऊपर आरोपित एक अन्य भूम का स्पष्टीकरण कर देना  
अवश्यक समझते हैं। प्रायः सन्तों के लिए यह कहा जाता है कि  
वे समाज से तटस्थ, पलायनवादी प्राणी थे। उन्होंने केवल अध्यात्म,  
मुक्ति, ब्रह्म, जीव, प्रकृति जैसे असामाजिक तत्वों की ही स्थापना की  
है, और इस प्रकार उनके जीवन और काव्य से हमें अकर्मण्यता और  
जीवन से पलायन करने की ही शिक्षा मिलती है। उनके अनुसार  
सन्त बिलकुल निरर्थक प्राणी थे और उनकी समग्र रचनायें रद्दी की  
टोकरी में फेंक देने योग्य हैं। सन्तों के ऐसे आलोचकों से हमारा  
किनमू निवेदन है कि उनकी इस प्रकार की धारणा पूर्वाग्रह पूर्ण  
अविचारित तथा असन्तुलित है। यदि ये आलोचक सन्तों की बानियों  
के अतिरिक्त सन्तों के जीवन चरितों का अध्ययन करते तो कदाचित्  
उन्हें अधिक लाभ होता। सन्तों की जिन्दगी समग्र जीवन की परि-  
भाषा है। समग्र जीवन से हमारा तात्पर्य है, भौतिकता तथा आध्या-  
त्मिकता का चरम समन्वय। इसमें से एक के अभाव में  
जीवन असन्तुलित हो जायगा। अस्तु, सन्तों के जीवन के पूर्व पक्ष  
(भौतिक जीवन) को बिना जाने ही हमारे आलोचक केवल उनकी  
आध्यात्मिक स्थापनाओं का अस्पष्ट अध्ययन करके सन्तों को कभी  
एकजुँी ठहराते हैं, तो कभी, पलायनवादी और असमाजिक कहते हैं।

वे अपनी इन आलोचनाओं में यह भूल जाते हैं कि कबीर विवाह-  
हित थे तथा जुलाहे का कार्य बड़ी रुचि के साथ करते थे। यह दूसरी  
बात है कि चांदर बुनते समय पंच-तत्त्व निर्मित शरीर रूपी चांदर  
का ज्ञान हो गया। रैदास जूते बनाने का कार्य करते थे। तुकाराम  
कृषि करते थे। सन्त एकनाथ पांडित्य वृत्ति से अपना जीवन-यापन  
करते थे। संक्षेप में हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकतर

सन्त गृहस्थ थे । और इसी कारण अपनी गृहस्थी को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए कोई न कोई व्यवसाय भी करते थे और सामाजिक प्राणी होने के कारण उनके समाज के साथ सम्बन्ध भी थे । किन्तु वे संसार की प्रत्येक वस्तु को परिवर्तनशील पाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यह संसार नश्वर और क्षण-भंगुर है । इसलिए इसके प्रति आसक्ति का परिणाम है नश्वर और नश्वर से राग-द्वेष होना । और इसलिए इसका दूसरा परिणाम है आनन्द-विषाद के द्वन्द्वों में आबद्ध होना । और इन द्वन्द्वों का चक्र कितना भयावह है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं । अर्थात् द्वन्द्वों में पड़ कर बार बार जीवन-मरण के चक्र में आना पड़ता है । इसलिए उन्होंने अपने भौतिक जीवन के भीतर ही अभ्यन्तर को भी जागृत किया । वे अपनी भौतिक जिन्दगी के भीतर ही आध्यात्मिक जिन्दगी जीने का प्रयास भी करते रहे । और अध्यात्म को उन्होंने अपने जीवन में इस प्रकार उतारा कि उससे चकाचौंध होकर आज का आलोचक उनकी उस भौतिक कर्मण्यता की जिन्दगी को देख ही नहीं पाता, जिसकी पुष्ट नींव पर उनका विशाल आध्यात्मिक प्रासाद खड़ा हुआ है । सन्तों ने कभी भी गृहस्थीनिरपेक्ष विरक्त जीवन को बिताने का उपदेश नहीं दिया । यद्यपि यह सत्य है कि वे भौतिकता में उत्पन्न होकर जीवन भर भौतिकता में पड़े रहने के समर्थक नहीं थे । वे लौकिक जीवन से उठकर पारलौकिक जीवन का प्राप्त करने को जीवन का अभीष्ट मानते थे । इस प्रकार उनके जीवन में भौतिकता और आध्यात्मिकता के गुम एक साथ प्रतिष्ठित होकर समग्र जीवन की परिभाषा बन गए थे । सन्तों को असामाजिक और पलायनवादी कहने के पूर्व उनके जीवन का इस दृष्टि कोण से अध्ययन भी आवश्यक है । नहीं तो हम उनके साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकेंगे । और सन्त के साथ अन्याय करना अशोभन तो है ही साथ ही अहित कर भी है ।

इस पूर्व कथन के पश्चात् अब हम सन्तों की बानियों के माध्यम से सन्तों के पास, उनकी सामाजिकता और प्रेषणीयता के पास ले चलने की चेष्टा करेंगे। और हमारी यह धारणा है कि जिस प्रकार हम उनकी साधना और आध्यात्मिका की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार उनके जीवन के भीतर से प्रवाहित होती हुई सामाजिकता और प्रेषणीयता को भी सराहेंगे।

ऊपर हमने सन्तों की सामाजिकता अथवा प्रेषणीयता को दो वर्गों में विभाजित किया है। प्रथम वर्ग की संज्ञा हमने उपदेशात्मक अध्यात्म-प्रतिष्ठा की है तथा दूसरे को लोक सेवा के नाम से अभिहित किया है। हम इस स्थल पर इसी क्रम से उनकी सामाजिकता और प्रेषणीयता पर उनकी बानियों के माध्यम से विचार करेंगे।

### उपदेशात्मक अध्यात्म-प्रतिष्ठा

यह संसार 'जम-जाल' है। इसमें जो उत्पन्न हुआ है उसका काल "कलेवा" करता है। हम चौरासी लाख योनियों में अनेक प्रकार के दुख सहन करते हुए भ्रमण कर रहे हैं। इस भ्रमण का न तो कहीं आदि दिखाई देता है न अन्त। संसार के आवागमन के इस चक्र में कोई सही मार्ग-दर्शक गुरु ही मुक्ति दिला सकता है। अस्तु उन्नी की कृपा छाँह में हमें चलना चाहिए। इस सन्दर्भ का एक सांसारिकता पर अध्यात्म-प्रतिष्ठा करने वाला पद 'तुलसी साहिब' हाथरस वाले का देखिए:—

कोई सत गुर मिलै री दयाल, काढै जम जाल से ॥  
करता काल कलेवर कीन्हा, दीन्हा भौ भ्रम जाल ॥  
लख चौरासी जिया जोनि में, फिरते बहुत बिहाल ॥१॥  
कहो उनकी किरपा बिन दूजा कौन करे प्रतिपाल ॥  
कल्प कल्प कागा करि राखै, कैसे होय मराल ॥२॥

चहुँ दिसि फेर रह्यो चक्कर को दूसर चलै न चाल ।  
 को रोकै सम्मुख होइ जाके, कठिन कुलाहल काल ॥३॥  
 सतसंग बिना दीन, दिल दृढ़ कै, केहि विधि होइ निहाल ।  
 संत सरन लीन्हें बिन कोई, लिखा रे मिटै नहिं भाल ॥४॥  
 तुलसी तीन लोक का नाइक, सबका लूटै माल ।  
 सतगुरु चरन सरन जो आबै, सो जिव देत निकाल ॥५॥१

अर्थात् कुसंग को छोड़कर सत्संगति की शरण लो, जो भाग्य-  
 बिधान को उलट सकती है । बिना संत की शरण गए हुए दुःख के  
 भोगों का यह तारतम्य किसी प्रकार छूट नहीं सकता । इस प्रकार  
 की आध्यात्मिक चेतावनी से संत तुलसी साहिब ने लोक सम्पर्क स्था-  
 पित किया है । उनकी इस चेतावनी में उनके हृदय की ईमानदारी  
 और सत्यता छलकी पड़ती है ।

तुलसी साहिब के एक दूसरे पद को देखिए, जिसमें उन्होंने अनादि  
 काल की मोह निशा में सोते हुए जीव को सचेत किया है । वे कहते  
 हैं कि बिना इस निशा से जागे हुए उस परमानन्द की प्राप्ति असम्भव  
 है, जिसकी शश्वत-टोह में जीव सृष्टि के प्रारम्भ से ही इधर-उधर  
 भटक रहा है :—

भोर कोइ जागो रे जागो, क्या सोवै नींद भर घोर ॥  
 बदल घुमड़ घोर अधियारी, पहरू करत हैं सोर ॥  
 जागे जिन-जिन तपन निवारी, घर मूसत हैं चोर ॥१॥  
 पांच पचीस बसैं घट मांहीं साईं निपट कठोर ।  
 मोर और और देख झकझोला, चलत नेक नहिं जोर ॥२॥  
 तनकी तीन छार प्रर प्यादे, साधे कपट की डोर ।  
 बाधत आस नेक नहिं शोकै, एक न मानत मोर ॥३॥

---

१. तुलसी साहब हाथरस वाले की बानी पृ० १-२  
 (बेलबेडियर प्रेस, प्रयाग)

तुलसीदास बाज यह बसती, कह कह द्वार निहोर ।

कोतवाल कलबूत समाना, हाकिम अंधन घोर ॥४॥२

उपयुक्त पद में संत तुलसी साहब प्रतीक और रूपक-विधान के अन्तर्गत असार में उत्पन्न होने के पश्चात् प्राणी को किन्न मोहक और भयावह उपकरणों से सामना करना पड़ता है, बड़े विस्तार और काव्य-मय ढंग से वर्णन किया है। उनका कहना है बिना संसार से विरक्ति अथवा उदासीनता दिखलाये मानव को प्रत्येक जन्म में इनके द्वारा प्रसूत दुःखों की भयानक श्रृंखला का सामना करना पड़ेगा। अस्तु, अभी से इस बंधकार से मुक्ति पाने के लिए अद्यत्म रूपी प्रकाश की ओर चलो।

“ऐ मानव, तू ‘गफलत’ में पड़ा हुआ है और तेरे शिर पर काल मंडरा रहा है। ‘आज-कल’ में ही तू इह लोक लीला संवरण कर लेगा। तू घर-द्वार, पुत्र-कलत्र के मोह में पड़ा है, और मुक्ति के विषय में बिल्कुल अचेत है। तू यह समझता है कि मैंने ठग लिया है, किन्तु वास्तव में तू ही ठगा गया है। यह तेरी मूर्खता है कि अन्यथा विचार रखता है। तू प्रभु के नाम रूपी संजीवनी मूल को छोड़कर ‘माहुर’ खा रहा है। किन्तु अब तेरी शेखी नहीं चलेगी, इसलिए चेत जा अब तेरी आयु बीत गई है और काल शिर पर चक्कर लगा रहा है॥” इस भाव का शोक ‘पलटू साहब’ का एक पद देखिए—

तू क्यों गफलत में फिर सिर पर बैठा काल ॥

सिर पर बैठा काल दिनोंदिन वादा पूजे ।

आज काल में कूज मुख नहि लो कहैं सुझे ॥

कोड़ी-कोड़ी जोरि व्याज दे करते बट्टा ।

सुखी रहै परिवार मुक्ति में होवत ठट्ठा ॥

२. तुलसी साहब हाथरस बाने की बानो पृष्ठ ३

(बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

तू जानै मैं ठग्यो आपको तुही ठगावै ।  
 नाम सजीवन मूर छोरि के माहुर खावै ॥  
 पलटू सेखी ना रही चेत करो अब लाल ।  
 तू क्यों गफलत में फिरै सिर पर बैठा काल ॥१

सन्त पलटू को इस बात की पूर्ण जानकारी है कि मानव अनेक जन्मों से दुःखों का यह अंबार अपने कंधों पर बोता चला आ रहा है । और वह इसमें इतना आसक्त है कि उसे चाहकर भी छोड़ नहीं पाता । अस्तु, वे इसे अपना परम पुनीत कर्तव्य समझते हैं कि उसे संसार के यथार्थ से पूर्णतया अवगत कर दें ।

एक अन्य पद में वे काल की महिमा स्वीकार करते हुए कहते हैं कि काल इतना प्रबल है कि एक निश्चित अवधि के पश्चात वह सुर, नर, मुनि और योगी यतिओं को भी अपने परिवेश में ले लेता है । कहाँ तक कहा जाय काल की भी मृत्यु होती है । यदि कोई अमर है तो वह पारब्रह्म भगवान है । अस्तु, हमें उसी अमृत की शरण लेनी चाहिए :—

सुर नर मुनि जोगी जती, सभै काल बसि होय ॥  
 सभै काल बसि होय मौत काली की होती ।  
 पारब्रह्म भगवान मरै ना अबिगत जोती ॥  
 जाको काल डेराय ओट ताही की लीजै ।  
 काल का कहा बसाय भक्ति जो गुरु कीजै ॥  
 जरा मरन मिटि जाय सहज में औना जाना ।  
 जपि कै नाम अनाम संत जन तत्व समाना ॥  
 वैद घनंतर मरि गया पलटू अमरन कोय ।  
 सुर नर मुनि जोगी जती सभै काल बसि होय ॥२

---

१. पलटू साहब की बानी पृष्ठ १७ (वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)  
 २. " " " १८ " " "

संत पलटू का कहना है कि मृत से अमृत की ओर चलो अंधकार से प्रकाश की ओर यात्रा करो, दुख को त्याग कर परमानन्द को अपनाओ। समय रहते हुए भी यदि ऐसा न कर सके तो बाद को पश्चाताप ही हाथ लगेगा। क्योंकि इस संसार में परम शक्ति-सम्पन्न तथा परम मेधा-सम्पन्न व्यक्ति भी काल के प्रभाव से नहीं बच सके।

संत मल्लूदास जी संसार की नश्वरता देखकर चेतावनी देते हुए कहते हैं “मुझे तो सारा संसार मृत ही दिखाई देता है। मैं तो किसी को जीवित नहीं देखता। (जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु प्रति क्षण हो रही है) इसलिए तेरा इस ‘नाचीज’ ‘दुनियाँ’ में आसक्ति दिखाना अज्ञानता है। तू अपने को जान (Know thyself: -Maharshi Raman)। तभी तुझे प्रभु की पहिचान होगी। एतद्विषयक उनका निम्नलिखित पद देखिए.—

ऐ अजीज ईमान तू काहे को खोवै ।  
हिय राखै दरगाह में, तो प्यारा होवै ॥१॥  
यह दुनियां नाचीज के, जो आसिक होवै ।  
भूलै जात खोदाय को, सिर धुन धुन रोवै ॥२॥  
इस दुनियां नाचीज के, तालिब कुत्ते ।  
लज्जत में मोहित हुए, दुख सहे बहूते ॥३॥  
जब लग अपने आपको, तहकीक न जानै ।  
दास मलूका रब को, क्योंकर पहिचानै ॥४॥१

इस नगण्य दुनिया के ‘तालिब’ (अभिलाषी) कुत्ते होते हैं। जिस प्रकार कुत्ता अस्थि को चाटता हुआ अपनी जिह्वा और मुख में ब्रण कर लेता है और फिर उससे प्रवाहित अपने ही रक्त को अत्यन्त आनन्द से चाटने लगता है। ठीक उसी प्रकार सांसारिक विषयों को

भोग्यता हुआ व्यक्ति अपने ही को प्रत्येक जन्म में समाप्त करता रहता है । विषयों की श्रृंखला तो अनादि है, किन्तु व्यक्ति उन्हें भोग कर समाप्त करने की कामना लिए हुए एक दिन स्वयं ही समाप्त होजाता है । मानव को इसी प्रवृत्ति को मल्लूकदास ने स्वान-वृत्ति की संज्ञा दी है । सबमुख यह कितनी निन्द्य और जुगुप्सा पूर्ण बात है कि मनुष्य परम दुख को परम सुख की संज्ञा दे बैठा है ।

‘तूने अपने समय को ‘जोरू-लड़कों’ के प्रसन्न करने में व्यतीत कर दिया और उस ‘साहेब’ को भूल गया । जीवन में एक क्षण भी उचित राह का राही नहीं बना और दुष्कर्मों को अपना चरम लक्ष्य बनाए रहः । अब अन्त समय में तो उस ईश्वर का स्मरण करते, जिसने इस संसार की रचना की है । इस विषय का एक अन्य सुन्दर पद सन्त मल्लूक दास का देखिए—

नाम हमार खाक है, हम खाकी बन्दे ।  
खाकहि ते पैदा किए, अति गाफिल गन्दे ॥ १ ॥  
कबहुँ न करते बन्दगी, दुनियां में भूले ।  
आसमान को ताकते, घोड़े चढ़ि फूले ॥ २ ॥  
जोरू लड़के खुस किए, साहेब बिसराया ।  
राह नेकी की छोड़ि के, बुरा अमल कमाया ॥ ३ ॥  
हरदम तिसको याद कर, जिन बज्रूद सँवारा ।  
सबै खाक दर खाक है, कुछ समझ मँवारा ॥ ४ ॥  
हाथी छोड़े खाक के, खाक खान खानी ।  
कहैं मल्लूक रहि जायगा, औसाक निसानी ॥ ५ ॥ १

सन्त मल्लूकदास जी गृहस्थ थे और उनकी संसार की नश्वरता विषयक उपयुक्त स्थापनाएँ पालयनवादी नहीं, वरन् उनके ठोस अनुभव से प्रसूत अतिशय रूप से यथार्थ वादी हैं । और इसी कारण उन्होंने—

ने मनुष्यों को माया के अनेक विग्रहों से विमुख होने के लिए कहा है तथा ईश्वर अथवा अध्यात्म की ओर उन्मुख होने की चेतावनी दी है। क्योंकि एक मात्र वही सार तत्व है। वही स्पृहणीय है। वही भजनीय है तथा वन्दनीय है।

सन्त केशवदास को भी इस संसार की समग्र संसारिकता नश्वर दिखलाई दी है। इसीलिए 'दौलत निसान' तथा 'खुदी अभिमान' की भर्त्सना करते हैं और जीवों के ऊपर कृपा करने का आदेश देते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि संसार का संपूर्ण वैभव-ऐश्वर्य असत्य है। और इसलिए उसका अभिमान व्यर्थ है। केवल प्रभु ही सत्य है। इसलिए संसार के पदार्थों से चित्त हटाकर, प्रभु के चरणों में लगाओ”

दौलत निसान बान धरे खुदी अभिमान,  
करत न दाया काहू जीव की जगत में।  
जानत है नीके फीको है सकल रंग,  
गहे फिरै काल फंद मारैगो छिनकमें।  
घेरा डेरा गज बाज झूठों है सकल साज,  
बादि हरिनाम कोऊ काज नाहि अन्त कै।  
बार बार कहैं तोहि छोड़ मान माया मोह,  
केसो काहे को करै छोभ मोह काम कै। २

इस प्रसंग में एक रेखता सन्तचरन दास का भी दृष्टव्य है, जिसमें उन्होंने सांसारिक ऐश्वर्य के अभिमान की कटु भर्त्सना और प्रभु के नाम की शरण में जाना जीव का गन्तव्य बताया है :—

दो दिन का जग में जीवना करता है क्यों गुमान।  
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान ॥ १ ॥  
दावा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती।  
चलता है अकड़ अकड़ के ज्वानी का जोस आन ॥ २ ॥

मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब ।  
 गफलत को छोड़ सुहबत साधों की खूब जान ॥ ३ ॥  
 दौलत का जोक ऐसे ज्यों आब का हुबाब ।  
 जाता रहेगा छिन में पछतायगा निदान ॥ ४ ॥  
 दिन रात सोक्ता है दुनिया के कारबार ।  
 इक पल भि याद सांह की करता नहीं अजान ॥ ५ ॥  
 सुकदेव गुरू ज्ञान चरनदास को कहै ।  
 भज रामनाम साँचा पद मुक्ति का निधान ॥ ६ ॥ १

संत चरनदास के अतिरिक्त सन्तमत में अग्रगण्य कबीर दास जी को भी 'तिरगुन की फाँस' लिए हुए तथा 'मधुरी बानी' बोलती हुई 'माया' बड़ी 'ठगिनि' प्रतीत हुई है और उसके अनेक विग्रहों से उन्होंने दीवाने मन को साधने का आदेश दिया है ।

### जन-सेवा तथा सुधारवादी प्रतिष्ठा

इस स्तंभ में सन्तों के उन विचारों को देखेंगे जिन्हें उन्होंने समाज की उन रूढ़ियों के सुधार के हेतु प्रकट किया है और जिनके द्वारा समाज का अत्यधिक अहित हो रहा है । हम प्रथम पद सन्त कबीर का उद्धृत कर रहे हैं, जिसके अन्तर्गत उन्होंने संकीर्णता जनित बाह्याचार पर समाज के प्रकर्ष को बड़े जोरदार शब्दों में भर्त्सना की है:-

सन्तो देखत जग बीराना

साँच कहौ तो मारन घाबै झूठहि जग पतियाना ॥

नेमी देखा घरमी देखा प्रात करहि असनाना ।

आतम मारि पखानहि पूजहि उनमंह किछउ न जाना ॥

हिन्दू कहहि मोहि राम पियारा तुरुक कहहि रहिमाना ।

आपस में दोउ लरि मूए मरम न कोई जाना ॥  
 कर्हिह कबीर सुनहूँ हो श्रुतो ई सभ भरम भुलाना ।  
 केतिक कहीं कहा नहि मानै सहजहि सहज समाना ॥

इस पद में सन्त कबीर दास ने अपने समय के देश काल का अद्भुत प्रतिबिम्ब उपस्थित किया है । उस समय धर्म के नाम पर हिन्दू-मुसलमानों में घोर-संघर्ष होते थे । राम और रहीम, चोटी और दाड़ी का विवाद बहुधा मृत्यु में निर्वाण पाता था । उस काल में समाज धार्मिक रूढ़ियों का आगार बन गया था । स्नान इत्यादि बाह्य-आचारों तथा आत्मा के स्वरूप की जानकारी को छोड़ कर लोग प्रतिमा पूजन को ही अध्यात्म का परम मानने लगे थे । कबीर को अध्यात्मिक और सामाजिक क्षेत्र की यह दुर्दशा सह्य नहीं हुई । और उन्होंने अपने उपर्युक्त पद के समान अनेक अन्य पदों में तात्कालिक समाज को प्रबुद्ध बनाने के कठोर आघात किए तथा समाज के समुचित मार्ग-दर्शन का भगीरथ प्रयास किया । हिन्दू-तुर्क आदि बाह्य नामोपाधियों का तात्त्विक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं । हिन्दू और मुसलमान की मान्यतायें तो अपने-अपने स्थान पर हैं किन्तु साधु का मार्ग साधना की प्रक्रिया इन दोनों से पृथक् है । और अध्यात्म के उपलब्धियों के लिए इसी मार्ग का अनुसरण करना होगा । तभी द्वैतों से छुटकारा मिलेगा, जो संघर्षों के कारण बने हुए हैं, जो अपनी वास्तविक जानकारी में बाधक हैं । इस विषय की कबीर की पंक्तियाँ देखिए:—

हिन्दू तुर्क न हाइबा साहिब सेती काम ।  
 षट दरसन के संग न जाइबा निर्णण कहिबा राम ॥  
 करणी हिन्दू तुर्क की अपनी अपनी ठौर ।  
 दुहु बिच मारग साध का सन्तों को रह और ॥

एक अन्य पद में वे हिन्दू और मुसलमानों को अपने कर्मों के विरोधाभासों के लिए फटकारते हुए कहते हैं:—

सन्तों, राह दोऊ हम डीठा ।

हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै स्वाद सबन को मीठा ।

हिन्दू बरत एकादसि साधै दूध सिंघाड़ा सेती ।

अन को त्यागै मन नहिं हटकै पाहन करै स-जोती ॥

रोजा तुरुक नमाज गुजारै बिसमिल बांग पुकारै ।

उनको भक्ति कहां ते होइहै सांझै मुरगी मारै ॥

हिन्दू दया मेहर को तुरकन दोनों घट सो त्यागी ॥

वै हिलाल वै झटका मारै आगि दुनों घर लागी ॥

हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुर इहै बताई ।

कहहिं कबीर सुनो हो सन्तों राम न कहेउ खोदाई ॥

उस समय के हिन्दू-मुसलमानों की अध्यात्म साधना के अन्तर्गत किस क्षि प्रगति से पाखण्ड और ग्राडम्बर प्रविष्ट होता जा रहा था, कबीर के उपर्युक्त पद से भली-भांति ज्ञात होता है । कबीर ने इस बाह्याडम्बर के ऊपर आघात करके मानव को उसके वास्तविक रूप से परिचित कराने का प्रशंसनीय प्रयास किया । उन्होंने निर्दयता और अकरुणा के ऊपर सहृदयता और दया को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की । ऐन्द्रिक-आस्वादों की उत्कट और दुर्दमनीय अभिलाषा पर संयम और नियम की कड़ी पाबन्दी लगाने का आग्रह किया । उनकी इन चेतावनियों से यह भली भांति प्रकट होता है कि उस काल के भारत की कितनी संकटापन्न चारित्रिक परिस्थित थी । और उन्होंने जनता इससे आगाह करने के लिए एक सच्चे सन्त के समान अपने उत्तर दायित्व का निर्वाह किया ।

हिन्दू-मुसलमानों के वाह्याचारों पर प्रकर्ष तथा पाखण्ड-उपासना के अतिरिक्त उनकी दृष्टि समाज की अन्य कुरीतियों की ओर

भी गई थी। उन्होंने तीर्थ-स्थानों के मेलों में ग्राम्य बनिताओं की दुर्दशा देखी थी। और इसी प्रकार उनकी निगाह समाज की अशुचि कुरीतियों की ओर गई थी। उन्होंने जब जिस कुरीति या पाखण्ड को देखा उस पर तत्काल प्रहार किया। उन्हें किसी की भी परवाह नहीं थी। वे सत्य बात कहने में प्राणों की भी चिन्ता नहीं करते थे। उनके हृदयोद्गार कभी आक्रोश की कटुता में लिपटे हुए निकलते थे तो कभी व्यंग्य और हास्य की तीक्ष्णता उनका परिधान बनता था। व्यंग्य और विनोद का एक उत्तम उदाहरण उनके 'चल कुल-बोरनी गंगा नहाय' पद में प्राप्त होता है। कबीर के ऐसे अनेक पद हैं, जिनमें उन्होंने सामाजिक कुरीतियों की ओर अपना स्वर ऊँचा किया है।

कबीर के अतिरिक्त अन्य सन्त भी अपने समय के देश काल से उदासीन नहीं रहे। उनका सम्पर्क जनता से बराबर बना रहता था। और वे उसके हित के लिए यथा शक्ति प्रयत्न करते थे। दया अथवा करुणा मानवता का एक कोमल भाव है। इसके बिना मानव दुर्दान्त पशु से विशिष्ट होकर मनुष्य की सजा पाता है। वह मानव जिसकी देह प्राप्त करने के लिए देवता भी सतृष्ण और लालायित रहते हैं। और वही मानव जब निर्दयता पूर्ण मानवीय कार्य करने लगता है तो सन्त का हृदय आन्दोलित हो उठता है। क्योंकि जो दूसरे को सन्तप्त करता है वह सन्तप्त किया जायगा। सन्त तुलसी साहब के पशुबलि के विरुद्ध उद्गार सुनिए:-

देखो नर की भूल सूल तासे सहै ।

जीवत मारै जीव प्राण उसके लहै ॥१॥

देवी बकरा काट सीस उस पै धरै ।

बूझै न अंध अचेत जिवत जिव जो मारै ॥२॥

पूत पराया मार दरद नहिं लावही ।

कुशल से होइ जनम दुख पावही ॥३॥

वास्तव में दूसरे को सन्तुष्ट करके किस प्रकार कोई संसार में शान्ति पूर्वक रह सकता है। करुणा की इतनी महनीय प्रतिष्ठा गौतम-बुद्ध के पश्चात् फिर सन्तों ही में दृष्टिगोचर हो रही है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि लोग अपने गुरुओं (माता-पिता आदि) का आदर सत्कार नहीं करते तथा किसी समाधि-स्थल पर जाकर चढ़ोती चढ़ाते हैं। इस कटु यथार्थ की ओर सन्त पलटू साहिब की भी दृष्टि गई थी इसे व्यक्तियों के लिये उनकी फटकार निम्नलिखित कुंडलिया में देखिए:—

घर में जिन्दा छोड़िकै मुरदा पूजन जांय ॥

मुरदा पूजन जांय भीति को सिरदा नावै ।

पान-फूल औ खांड जाइ कै तुरत चढ़ावै ॥

ताल कि माटी आनि ऊँच कै बांधिनि चोरी ।

लीपि पोत के धरिनि पूरी औ बरा कचोरी ॥

पीयर लहगा पहिरि जाइकै बैठिन बूढ़ा ।

भरमि भरमि अभुबाइ मांगत है खसी औ मूँड़ा ॥

पलटू सब घर बांटि कै ली ली बैठे खांय ।

घर में जिन्दा छोड़ि कै मुरदा पूजन जांय ॥२॥

सन्त पलटू का यह पद गहरे जन सम्पर्क का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी दृष्टि ने समाज की सभी कुरीतियों को बड़ी सतर्कता और बारीकी से देखा है, तथा उनके सुधार के लिए यथा सम्भव प्रयास किए हैं। अवध के ग्रामीण क्षेत्रों में एक कहावत का बड़ा प्रचलन

१ तुलसी साहिब की बानी, पृष्ठ ८६ वेलवेडियर प्रेस प्रयाग

२ पलटू साहिब की ,, ,, ७४ ,, ,, ,,

है: "जियत नदिहिन कौरा, मरे उठावैं चौरा ।' जीवितावस्था में तो पुत्र ने अपने माता-पिता को भोजन भी नहीं दिया और सदैव उसकी शीघ्र मृत्यु के कांक्षी बने रहे । किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् वे उनका स्मारक निर्माण करने का प्रयत्न करने लगे अथवा बड़ी धूम-धाम से अन्त्येष्टि संस्कार किया । इस मनोवृत्ति को लक्ष्य करता हुआ सन्त पलटू का एक सुन्दर सुधारवादी पद देखिए:—

जियतै देय गिरास न मुए परावै पिंड ॥

मुए परावै पिंड कोन है खावन हारो ।

रांधि परोसनि नेवति, खवागे ससुरा सारो ॥

पितरन के मुंह छार धोख दै लेइ बड़ाई ।

मुए बैल को घास देहु कहु कैसे खाई ॥

अपना परसा लेहु पित्र को छोड़ै पानी ।

करै पित्र से भूत बड़ो मूरख अज्ञानी ॥१

मानव की सर्वतोमुखी स्वार्थ लिप्सा का यह पद कितना सटीक उदाहरण है, बतलाने की आवश्यकता नहीं । ऐसी ही अन्य अनेक कुरीतियों के सुधार-सम्बन्धी सभी सन्तों के प्रयास उनके पदों में संग्रहीत हैं । हम उन सबके उदाहरण विस्तार भय से देने में असमर्थ हैं ।

सन्तों का अधिकांश जीवन ग्रामों में बीता । इसलिए उन्हें देहाती समाज का गम्भीर अनुभव था । अस्तु, उन्होंने अध्यात्म के अतिरिक्त (जो हमने इस सतम्भ में दिया है ) वह प्रायः ग्रामीणों के लिए ही था । यद्यपि यह सत्य है कि उनका विशेष प्रकर्ष अध्यात्म-प्रतिष्ठा के लिए ही था, इसलिए उन्होंने संसार की समग्र वस्तुओं के प्रति विरक्ति का भाव प्रदर्शित किया है । किन्तु, उनके साहित्य के परिशीलन तथा उनके जीवन के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वे

भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में समष्टि को ले जाने के लिए सचेष्ट थे। क्योंकि उनका विचार था कि भौतिकता में अनेक विग्रह होने के कारण मानव सत्य से बहुत दूर हो जाता है। अध्यात्म की चरम उपलब्धि में ही एकत्व के दर्शन होते हैं, जहां द्वैत जन्य सभी संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और चिर शान्ति विराजती है। इस दृष्टि से सन्तों की सामाजिकता अथवा प्रेषणीयता सीमा अथवा संकुचित भी है और असीम भी। संकुचित इस लिए कि वह अध्यात्म प्रतिष्ठा में ही सतत प्रयत्नशील रही है और असीम इसलिए है कि उसकी सामाजिकता के क्षेत्र का एक छोर भौतिक जीवन रहा है और दूसरा आध्यात्मिक। सन्तों की इस प्रकार की सामाजिक भावना का कारण उनके समय का काल और तत्कालीन परिस्थितियाँ रही हैं। उन परिस्थितियों और समस्याओं को सुलझाने के लिए उनके समक्ष इससे महान और उपयोगी और कोई हल नहीं था।

दो शब्द उनकी प्रेषणीयता के विषय में कह कर हम प्रकरण को समाप्त किया जा रहा है। कबीर ने कहा है 'ऐसा लो न वैसा लो केहि विधि कहूँ अनोखा लो।' अर्थात् सन्तों के साहित्य 'ऐसा-वैसा' अर्थात् परम्परागत भौतिक जीवन-सम्बन्धों का भी चित्रण प्राप्त होता है और 'अनूठा' अर्थात् चरम अध्यात्म का चित्रण भी मिलता है। यह कहना भ्रमपूर्ण है कि सन्त साहित्य ने जनता के मन को स्पर्श नहीं किया। वह केवल सन्तों तथा अध्यात्म-जिज्ञासुओं का ही साहित्य है। यदि यह बात सत्य होती तो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक और काठियावाड़ के असम तक के विभिन्न भाषा-भाषी उनके पदों का तन्मयता के साथ गान करते हुए दृष्टि गोचर न होते। उनमें जनता के लिए कोई ऐसी बात अवश्य है जो उसकी है और इसीलिए वह उन्हें कन्ठ-हार बनाए हुए है। सन्तों की सामाजिकता और प्रेषणीयता का इससे बढ़ कर और क्या उदाहरण हो सकता है।

# अध्यात्म, भौतिकता और जीवन

अध्यात्म और भौतिकता का जीवन से क्या सम्बन्ध है, इसे लेकर इस निबन्ध में कोई नवीन खोज नहीं प्रस्तुत कर रहा हूँ। प्राचीन ऋषियों से लेकर अर्वाचीन विद्वानों तक ने अपने विभिन्न ग्रन्थों तथा व्याख्याओं द्वारा इस विषय पर अनुभव-सिद्ध तथा विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। लोगों ने उन मार्ग-प्रदर्शनों को माना है, समझा है, अनुभव किया है और उससे वे लाभान्वित भी हुए हैं; किंतु फिर भी उलझनें रह ही गयी हैं। जिस प्रकार सूर्य कभी यह दावा नहीं कर सकता कि उसने अपने प्रकाश द्वारा सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर दिया है, क्योंकि उसके अनवरत प्रकाश-दान करते रहने पर भी संसार में अनेक ऐसी गुहाएँ और स्थान शेष रह जाते हैं, जिन्होंने कभी भगवान् भुवनभास्कर की एक भी किरण नहीं देखी है। भगवान् राम, कृष्ण और बुद्ध के काल में भी नास्तिक रहे हैं। वर्तमान युग में भी चालीस-पचास वर्ष पूर्व परमहंस रामकृष्ण के अलौकिक आध्यात्मिक व्यक्तित्व को देखकर भी अनास्था शेष नहीं रही—नास्तिकता के इस अद्भुत युग को देखकर कोन यह कहने का साहस कर सकता है। अतएव उन महापुरुषों की बानियों तथा आध्यात्मिक स्थापनाओं की पुनरावृत्ति की आज भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी उन्होंने अपने काल में अनुभव की थी। आज भी लोग आध्यात्मिक जीवन तथा भौतिक जीवन के मध्य विभाजक रेखा न खींच सकने के कारण अत्यन्त भ्रम में पड़े हुए हैं तथा इसी कारण

अध्यात्म के प्रति एक विचित्र पूर्वाग्रह बनाये हुए हैं ।

मैं अपने उपर्युक्त कथन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ । अभी जन्माष्टमी के अवकाश में मुझे अपने एक अस्वस्थ मित्र को देखने के लिये कानपुर जाना पड़ा । मेरे इन मित्र ने मुझे पत्र द्वारा सूचित कर दिया था कि आप दो-तीन दिन के लिये मेरे पास आइये, तो-तीन घंटे मेरे लिये पर्याप्त नहीं हैं । अतएव, मैंने मध्यम मार्ग अपनाया और एक दिन तथा एक रात उनके साथ रहा । मेरे ये मित्र खान-पान तथा रहन-सहन में बिल्कुल अंग्रेज हैं । बर्किंगम से इन्होंने केमिस्ट्री में पी-एच्० डी० प्राप्त की है तथा योरोप के विभिन्न देशों में लगभग तीन-चार वर्ष रहे हैं । भोजन के लिये एक कमरे को डाइनिंग रूम बना रखा है । वहीं पर एक बड़ी मेज के चारो ओर कुर्सियों पर बैठकर परिवार के अधिकांश स्त्री-पुरुष तथा बच्चे भोजन करते हैं । अधिकांश मैं इसलिये कहता हूँ कि उनकी माताजी तथा दो-एक अन्य जन भी भोजन की भारतीय परम्परा में ही आस्था रखते हैं । मुझे भी एक दिन के लिये अपनी रूढ़िवादिता को तिलांजलि देकर इस आयोपित प्रगतिशीलता को वरण करना पड़ा । ऋषियों ने ऐसे ही समयों के लिये आपद् धर्म का विधान किया है । पता नहीं, भोजन-प्रणाली की इस मान्यता के तात्कालिक परिवर्तन को आपद् धर्म के अन्तर्गत लिया जा सकता है या नहीं; किंतु मैंने इसे आपद् धर्म के अन्तर्गत ही मानकर संतोष किया । मेज पर सुस्वादु भारतीय भोजन के साथ-साथ कुछ पाश्चात्य प्रकार का भोजन भी था । इस भोजन में अंडे प्रधान थे । पेस्ट्री आदि भोज्य पदार्थ भी थे । पता नहीं इन अभारतीय अभोज्य पदार्थों की योजना (मैं इन्हें अभोज्य इसलिये मानता हूँ कि इनका प्रयोग सवर्ण जातियों में ब्राह्मणों और आभ्यात्मिक साधकों के लिये वर्जित माना गया है और मेरे मित्र महोदय उच्च वर्ण के रूढ़िवादी ब्राह्मण कुल के हैं,

यद्यपि अब इन भोज्य पदार्थों का प्रचार प्रायः सभी उच्चवर्गों में भी अबोधगति से स्थान पा चुका है) मेरे व्यक्तित्व के विरोध रूप में की गयी थी अथवा यह उनका नैतिक, स्वाभाविक क्रम था। मैं तो उसे स्वभाविक रूप में ही ग्रहण करता हूँ, चाहे उनकी मनोवृत्ति जैसी रही हो। अडों की शक्ति और उपादेयता पर वहाँ के अन्य जनों में सराहनापूर्ण वार्तालाप चल रहा था। इसी बीच एक सज्जन ने मुझसे कहा कि 'आप इस शक्ति के प्रतीक अंडे को क्यों स्वीकार नहीं कर रहे हैं?' मैंने देखा वे भी नहीं खा रहे थे और इसी से बल प्राप्त करके मैंने स्मित के साथ कहा कि आप भी तो इस फलाहार (अंडे में जान न होने के कारण पाश्चात्य देशों में इसे Vegetable के अन्तर्गत ही ग्रहण किया जाता है) को कृतार्थ नहीं कर रहे हैं। मेरे इस वार्तालाप को मेरे प्रगतिशील डा० मित्र ने सुना, मानों अभी तक वे मुझे परास्त करने के इस शुभावसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। बोले—हां, आप अंडा क्यों नहीं खा रहे हैं?' इसमें '....?' आगे वे कुछ कहें इसके पहले ही मैंने उत्तर दिया 'जी, इसीलिये। और अपने कथन को स्पष्ट करते हुए मैंने आगे कहा—'मैंने तो आपसे यह प्रश्न नहीं किया कि आप अंडा क्यों खाते हैं। मैंने खाने वालों के लिये भी अपना किसी प्रकार का अभिमत नहीं प्रकट किया। क्या मेरे व्यवहार का यह क्रियात्मक उत्तर आपके प्रश्न के लिये पर्याप्त नहीं है?' वे मेरी ओर इस प्रकार देखते रहे मानो वे मेरे कथन के अभिप्राय को न समझ सके हों। मैंने उनसे कहा—'भाई, यदि हिंसा अहिंसा के विवादात्मक प्रश्न को छोड़ भी दें तो प्रकृति के ऊपर भोजन के इस अनिवार्य प्रभाव को किस प्रकार अस्वीकार किया जा सकता है। जिस प्रकार का भोजन किया जायगा, निःसंदेह उसी प्रकार का मन बनेगा और वैसे ही उस व्यक्ति के कार्य होंगे। व्यक्तियों के समूह से समाज का निर्माण होता है। अस्तु, उसी प्रकार

का समाज भी बनेगा ।' मेरे मित्र ने इसका प्रतिवाद किया, किन्तु वे स्वयं जानते थे कि उनके द्वारा प्रयुक्त तर्क कितने शिथिल थे, क्योंकि प्रत्यक्ष के समक्ष सभी प्रमाण निरर्थक सिद्ध होते हैं ।

आपाततः उपर्युक्त घटना का उल्लेख विषय के शीर्षक के साथ असंगत सा प्रतीत होगा; किन्तु गम्भीरतापूर्वक सोचने पर इस उदाहरण में तथ्य का आभास अवश्य मिलेगा । जन्माष्टमी की उक्त घटना का मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा है और उसी से प्रेरणा प्राप्त करके मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अध्यात्म और भौतिकता को लेकर जीवन में जो एक भ्रम घर कर गया है, उसके विषय में मैं भी कुछ लिखूँ, यद्यपि मैं अपनी सीमाओं से पूर्ण अवगत हूँ और मैं यह दावा नहीं करता कि अध्यात्म तथा भौतिकता के सम्बन्ध में मेरा यह विवेचन अन्तिम शब्द होगा ।

ऊपर मैंने कहा है कि भोजन का मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है । भोजन अध्यात्म और भौतिकता के लिये मेरुदण्ड के समान है । भोजन के ही प्रभाव से मानव-मन अध्यात्म और भौतिकता को ग्रहण करता है । इस बात को आभिषभोजी और निरामिषभोजी पशु-के स्वभाव द्वारा अधिक सरलता से समझा जा सकता है । हिंस्र पशुओं में सिंह का प्रथम स्थान है । उसके अमिषाहार ने ही उसे इतना दुर्दान्त बना दिया है । उसकी भयंकरता और हिंस्र स्वभाव से सभी परिचित हैं । इसके विपरीत गाय को ले लीजिये । विशुद्ध शाकाहारी तथा निरामिषभोजी पशु है । इसकी प्रकृति अपने भोजन के कारण ही इतनी कोमल, मृदु और अहिंस्र है । इसी कारण जब किसी व्यक्ति को अत्यन्त ऋजु स्वभाव का देखा जाता है, तब उसके लिये प्रायः लोगों को यह कहते हुए पाया गया है कि 'बेचारा बड़ा सीधा है, बिल्कुल गाय ।' इसी प्रकार पक्षियों के स्वभाव के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं । निष्कर्ष यह कि जैसा भोजन किया

जायगा, वैसा ही स्वभाव बनेगा और तदनुकूल ही व्यक्ति के आचरण भी बनेंगे ।

अतएव भोजन द्वारा मानव प्रकृति निर्माण सारे संसार में त्रिविध देखा जाता है । आर्य मनीषियों ने इसी के अनुसार भोजन को भी तीन वर्गों में विभाजित कर दिया है । मानव-स्वभाव क्रम से सत्त्वगुण सम्पन्न, रजोगुण-सम्पन्न और तमोगुण-सम्पन्न माना गया है । इसी के अनुसार भोजन भी सत्त्वगुणी रजोमुणी और तमोगुणी वर्गों से विभाजित किया गया है । सत्त्वगुणी भोजन के अन्तर्गत प्रायः अधिकांश शाक, दुग्ध, घी दही, चावल, गेहूं, जौ, मूँग आदि भोज्य-सामग्री स्वीकृत हुई है । तरकारियों में लहसुन, प्याज आदि रजोगुणी तथा तमोगुण उत्पन्न करने वाली तरकारियाँ वर्जित मानी गई हैं । सत्त्वगुणी स्वभाव में पूर्णता लाने के लिए उपर्युक्त भोज्य पदार्थों का भी मिताहार ही होना चाहिए । सत्त्वगुणी भोजन-सम्बन्धी यह व्यवस्था यहीं तक अलम् नहीं हो जाती; वरं भोज्य सामग्री के अतिरिक्त भोजन-निर्माण करने वाले का मन भी पूर्ण शुद्ध, सत्त्वगुण सम्पन्न तथा स्नेहिल होना चाहिये । यदि उसके मन में इसके प्रतिकूल किसी प्रकार का विकार होगा तो उसका प्रभाव भी असंदिग्ध रूप से भोजन पर पड़ेगा और वह दोष उतनी मात्रा में भोजन करने वाले के मन में भी आ जायगा । इसी प्रकार कुछ शैथिल्य के साथ रजोगुणी भोजन को भी समझना चाहिये । रजोगुणी भोजन में स्वाद का अत्यन्त ध्यान रखा जाता है, इसलिए उसके निर्माण में भी अधिक व्यय होता है । यह भोजन अधिक गरिष्ठ होता है । दुग्ध के सम्पूर्ण विकार इसमें सम्मिलित किये जाते हैं । घी का प्रयोग अतिशय मात्रा में होता है । सात्त्विक व्यक्तियों की अपेक्षा इस प्रकार के भोजन करने वाले व्यक्ति अधिक मात्रा में भोजन भी करते हैं । संक्षेप में इस प्रकार का भोजन और इस वर्ग के व्यक्ति सत्त्वगुणी और तमोगुणी व्यक्तियों तथा सत्त्वगुणी भोजन और तमोगुणी भोजन के मध्य बिन्दु के रूप में हैं—ठीक उसी प्रकार, जैसे बाल्यावस्था

और यौवन के मध्य में वयः-संधि का काल । तमोगुणी भोजन में प्रायः सभी उत्तेजक भोज्य पदार्थ माने गये हैं । इनमें मांस, मछली, अंडे कटु, तिक्त, कषाय आदि प्रमुख पदार्थ हैं । अपने स्वभाव के अनुकूल ही प्रत्येक व्यक्ति अपने भोजन का चुनाव करता है, उसी के अनुसार उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना हो सकती है । उसी के अनुसार वह संसार से विरक्ति और अनुरक्ति प्रकट करता है । उसी के अनुसार वह संसारी अथवा असंसारी या दोनों का संयुक्त भाव रखता है ।

सात्त्विक भाव-सम्पन्न व्यक्ति धर्मभोर या धार्मिक होता है । रजोगुण सम्पन्न व्यक्ति का स्वभाव अर्द्ध-धार्मिक तथा अर्द्ध-सांसारिकता या भौतिकता-सम्पन्न होता है । तमोगुणी व्यक्ति घोर संसारी अथवा भौतिक भावापन्न होता है । इस स्थल पर मैं 'धर्म' शब्द की परिभाषा या अर्थ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ । आधुनिक काल में 'धर्म' शब्द के साथ जितनी अधार्मिकता का व्यवहार किया गया है, उतना अन्य किसी शब्द के साथ नहीं । आजकल अधिकांश व्यक्ति धर्म को अत्यन्त रुढ़िवादिता के अर्थ में प्रयुक्त करने लगे हैं, जो प्रगतिशीलता का निपट विरोधी है । किन्तु 'धर्म' शब्द न तो प्रगतिशील है और न अप्रगतिशील; वह जो है, वही है । न तो रत्ती भर कम, न रत्ती भर अधिक और वास्तविकता तो यह है कि बिना धर्म के किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु का अस्तित्व एक दिन भी स्थिर नहीं रह सकता—चाहे वह व्यक्ति आस्तिक हो या नास्तिक, और चाहे वह वस्तु लोह निर्मित हो, चाहे कोई वनस्पति । उसकी व्याप्ति प्रगतिशील, अप्रगतिशील तथा स्थिर सभी पदार्थों में एक समान है । 'धारयति इति धर्मः' । अर्थात् जो सबको धारण किये हुये है या जिसमें सब धरे हुये हैं, वह धर्म है । यदि परिभाषा की व्याख्या की जाय तो उस व्याख्या का स्वरूप इस प्रकार हो सकता है—यावत् पदार्थों को चिर काल तक जो अपने परिवेष में सुरक्षित रखता है, उसके योग क्षेम का पूर्णतया वहन करता है, उस अनुपम शक्ति को हम 'धर्म' के नाम से

सम्बन्धित करते हैं। मानव के लिये धर्म के उस महद्रूप के एक अंश का वर्णन करते हुये मनु ने मनुस्मृति में कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् यदि मनुष्य अपनी नैतिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक सत्ता बनाये रखना चाहता है तो उसकी धारणाशक्ति अच्छी होनी चाहिये, उसमें क्षमाका भाव होना चाहिये, उसमें अस्तेय होना चाहिये, इन्द्रियों पर उसका पूर्ण अनुशासन होना चाहिए, धैर्य धारण करने की उसमें शक्ति होनी चाहिए, अविद्याका त्याग होना चाहिए, उसे सत्य-वादी होना चाहिए तथा उसमें क्रोध का लेशमात्र भी न होना चाहिए। मनुस्मृतिकारको पूर्ण निश्चय है कि जो भी व्यक्ति उपर्युक्त दसों धार्मिक गुणों से सम्पन्न होगा, वह अति दीर्घकाल तक अभ्युदयमय जीवन व्यतीत करता हुआ अन्त में निःश्रेयसका अधिकारी बनेगा। वह लौकिक तथा पारलौकिक दोनों सुखों का पूर्ण अनुभव कर सकेगा। धर्म के उपर्युक्त दसों लक्षण सभी मतों के अनुयायियों को समान रूप से लाभप्रद हैं। मनुद्वारा स्थापित धर्म की इस परिभाषा से मेरी उपर्युक्त व्याख्यापर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अर्थात् धर्मके इन्हीं दसों लक्षणों का अनुगमन करने से जीवन भलीप्रकार सुरक्षित रह सकता है। इनमें एक भी लक्षण की अवहेलना करने से उतनी ही मात्रा में जीवन में अशान्ति आ जायगी और वह उतने सी अंश में अरक्षित हो जायगा।

अस्तु, यदि व्यक्ति का मन पूर्णतया सत्त्वगुण में अधिष्ठित होगा तो वह धर्मवान् कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि वह सद्-असद्-विचार-सम्पन्न होकर संसार के पदार्थों का भोग करता हुआ निःश्रेयसका अधिकारी हो सकता है और सात्त्विकता से वह जिस मात्रा में च्युत होगा, उतने अंश में वह संसार में लिप्त हो जायगा अर्थात् भौतिकभावापन्न होगा। उतने ही अंश में उसका मन अशान्त हो

जायगा। सांसारिकता में आविष्ट होने के कारण वह उसके भोग में भी पूर्ण सुखका अनुभव नहीं कर पायेगा; क्योंकि अशान्त मन से किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती।

किन्तु धर्म से भी ऊपर अध्यात्म है। धर्म मानों क्षेत्र हो, जिसमें अध्यात्मरूपी बीज वपन किया जाता है। अध्यात्म अथवा आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया मानव का सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये ऋषियों ने साधना की अनेक सरणियों की प्रतीष्ठा की है। उन सभी सरणियों को सरलता से दो स्थूल भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. विचार या ज्ञान-मार्गीय तथा २: साधना या योग-मार्गीय। एक तीसरा भाग भी सम्भव हो सकता है—भक्ति मार्गीय सरणि; किन्तु भक्ति को मैं हृदय प्रधान होने के कारण शुष्क ज्ञान से पृथक् मानता हूँ और इसीलिए उसके स्वरूप को योग के अन्तर्गत ही स्वीकार करता हूँ। ज्ञान मार्गीय साधना के अन्तर्गत विचार या ज्ञान ही प्रधान होता है। पर दर्शनों में से प्रायः पाँच में तर्क और विचार द्वारा आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया है—प्राकृति, जीव और ब्रह्म के निरूपण का भगीरथ-प्रयत्न किया गया है। भारतीय दर्शनों की स्थापनाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण और महनीय हैं, इस पर इस स्थल पर कुछ कहना विषयान्तर होगा; किन्तु आत्मसाक्षात्कार केवल विचार और तर्क के आधार पर सम्भव नहीं है, इसके सत्य को विभिन्न दर्शकों के प्रतिष्ठापकों ने भी स्वीकार किया है। विचार के क्षेत्र में उपनिषदों का प्रमुख स्थान है। कठोपनिषत्-कारने यह स्वीकार किया है—‘नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।’ अर्थात् इस आत्मा को बुद्धि—मेधा या शास्त्रज्ञान अथवा व्याख्यान द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता। निश्चय ही उपनिषद् यहाँ अहंकार शून्य शुद्ध तार्किक ज्ञान की ही बात करता है। उसे यहाँ स्वार्थ और अहंकारपूर्ण अज्ञान अभिप्रेत नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान मार्ग का निष्कर्ष है कि ‘अहं’ ( Ego ) को नष्ट

करने से अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा के दर्शन हो सकते हैं। सबसे अन्तिम दर्शन वेदान्त अपनी स्थापना के द्वारा इसी निष्कर्ष पहुँचा है। 'अहं' के पूर्ण निरसन का अर्थ होता है—अपनी वासनाओं तथा स्वार्थों का उस अलौकिक शक्ति के चरणों में पूर्ण समर्पण; किन्तु यह मार्ग इतना दुरूह और अगम है कि सफलता का अवसर कई जन्मों के सतत अभ्यास के पश्चात् भी प्राप्त हो सकेगा—निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसीलिए कहा है—ज्ञान कै पंथ कृपान कै धारा।' निश्चय ही वह तलवार की धार के ऊपर चलने के ही समान है।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्म की सर्वोपरि उपलब्धि अहंकार के पूर्ण त्याग में है। रूढ़ योग की क्रियात्मक प्रक्रियाओं द्वारा भी आत्मदर्शन के प्रयत्न किये गये हैं। योग की इन प्रक्रियाओं में हठ योग और राजयोग प्रमुख हैं। आसन, प्राणायाम द्वारा समाधि की प्राप्ति हठयोग की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है; किन्तु इस प्रक्रिया में मन तभी तक लय की स्थिति में रहता है, जब तक वह समाधि के अन्तर्गत है। इसके पश्चात् वह पुनः अनेक संकल्प-विकल्पों में रत हो जाता है। अतएव उसे आत्मानन्द का क्षणिक ही आभास होता है। और फिर समाधि-अवस्था में भी जड़ता ही रहती है। मन आनन्द में नहीं आविष्ट हो पाता। इसीलिये हठयोग द्वारा प्राप्त समाधि को जड़ समाधि कहते हैं।

योग की दूसरी प्रक्रिया है राजयोग। इस प्रक्रिया में मन को एकाग्र करके उसके लय करने का प्रयास किया जाता है। इस योग की अनेक विधियाँ हैं, किन्तु सभी में ध्यान द्वारा मनोलय का प्रयत्न है। भक्ति भी योग के अन्तर्गत ही मानी गयी है। इसमें प्रभु के प्रति पूर्ण राग तथा प्रणति होने के कारण 'अहं' का पूर्ण निरसन अत्यन्त सरल दृष्टिगोचर होता है।

योग की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं में आत्मप्राप्ति के मार्ग में जैसी सफलता 'सुरतिशब्द योग' को मिली है, वैसी अन्य किसी साधना-पद्धति को कदाचित् नहीं मिली। इस परम्परा का कबीर से लेकर आज तक का एक अत्यन्त उज्ज्वल तथा महनीय इतिहास है। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने इसे 'संत-मत' की संज्ञा दी है। इनके ग्रन्थों का परिशीलन भर किया गया है। इधर विद्वानों के अनेक शोध-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं; किन्तु ये विद्वान् चूँकि उनकी साधना पद्धति से पूर्ण परिचित नहीं रहे हैं, इसलिये उनके ग्रन्थों और योगमत के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके। संतों के साधना-मार्ग ज्ञान, विज्ञान तथा भक्ति का अद्भुत समन्वय मिलता है। इनकी साधना से 'अहं' का पूर्ण निरसन सम्भव है। मन का सम्पूर्ण लय भी इन्हीं के साधन द्वारा सम्भव है। संतों ने तो पूर्ण दावे के साथ अपने मत को सर्वोपरि आध्यात्मिक उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया है।

अस्तु, अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-जीवन की चरम उपलब्धि आत्मसाक्षात्कार है और यह आत्म-साक्षात्कार तभी सम्भव हो सकता है, जब हम या तो विचार एवं तर्क द्वारा 'अहं' का पूर्ण निरसन करें या फिर योग की अनेक प्रक्रियाओं में से किसी एक का अनुगमन करके मनोलय द्वारा 'अहं' पर विजय प्राप्त करें। किन्तु इसके लिये मन की अवस्थिति सद्धर्म पर होनी अनिवार्य है और सद्धर्म के लिये मन का सत्वगुण पर अधिष्ठित होना परमावश्यक है, तथा मन सत्वगुण पर तभी अधिष्ठित हो सकता है जब व्यक्ति समयपूर्वक सत्वगुणी भोजन करे। इस प्रकार का योगी ही भौतिक जगत या ससारी जीवन के सुखों का आनन्द भी उठा सकता है। अतएव जीवन में भौतिकता को अध्यात्म के परिवेष में ही स्वीकार करना चाहिये, तभी अम्युदय और निःश्रेयस की सम्पूर्ण प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

## हमारा सुरुचिपूर्ण उत्कृष्ट प्रकाशन

### आलोचना

- १—आधुनिक हिन्दी-कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ  
—डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी ३-५०
- २—भारतेन्दु काव्यादर्श—कृष्ण किशोर मिश्र ४-५०
- ३—सन्त-मत में साधना का स्वरूप—प्रतापसिंह चौहान २-५०

### उपन्यास

- ४—ब्रह्मादरशाह—(ऐतिहासिक) बाल्मीकि त्रिपाठी ५-५०
- ५—विकलांग—(ऐतिहासिक) बाल्मीकि त्रिपाठी ६-००
- ६—प्रजाप्रिय प्रजेय—(ऐतिहासिक) बाल्मीकि त्रिपाठी ४-००
- ७—उपेक्षिता—(सामाजिक) बाल्मीकि त्रिपाठी ४-५०
- ८—नागमणि—(ऐतिहासिक) शत्रुघ्नलाल शुक्ल २-००
- ९—अंचल—(सामाजिक) सत्यदेवसिंह ६-००

प्रकाशक

प्रत्यूष प्रकाशन

रामबाग, कानपुर ।















